साहित्य एवं शोध : कुछ समस्यायें

लेखक :
डा० देवराज उपाध्याय
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

अनुपम प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक :
अनुपम प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

प्रथम संस्करण ; १९७०

मूल्य : बारह रुपये पचास पैसे

मुद्रक :
अखिल भारतीय मुद्रणालय, जयपुर
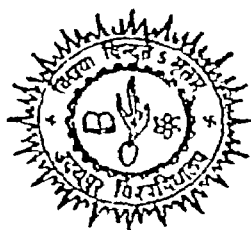
Vice-Chancellor

UNIVERSITY OF UDAIPUR
UDAIPUR

FOREWORD

Scholarship attracts laymen as well as scholars. No apology is therefore needed for my writing this brief foreword,

Dr. Devraj Upadhyaya, the head of our Hindi department, has been a scholar of rare distinction and an author of long standing. Some thirty years back he pioneered what is known as the psychological criticism in Hindi literature. He has been working hard over the years to penetrate deep into this method & now seems to have brought it up-to-date. The present volume deals with the problems of literature and research against the back-ground of explosion in science & knowledge. Readers will, doubtless, feel intrested in the questions of text-correction and the psychological kenning of the naturalist novel. Surprisingly enough, the author revives the controversy "Shakespear or Marlowe ?"

The style is simple, smooth & never obscure; and yet the treatment is deep and probing.

Dr. Upadhyaya deserves all congratulations.

अपनी बात

'साहित्य एवं शोध : कुछ समस्यायें' नामक इस पुस्तक को पाठको के हाथों मे देते हुए हर्ष और विषाद दोनों तरह के भाव मेरे हृदय में आ-जा रहे हैं। हर्ष का कारण तो स्पष्ट है। इधर तीन-चार वर्षों मे साहित्य के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ सोचा है वह अब कसौटी के लिये विद्वद्वृन्द के सम्मुख आ रहा है। वे इसे अपनी विचारशाणोत्पल-पट्टिका पर जांच कर देखेंगे। उन्हें भी कुछ सोचने पर बाध्य होना पड़ेगा, क्योंकि कहीं-कहीं बातें नई तो उतनी नहीं हैं पर विचित्र ढग से कही गई हैं। यदि वे भ्रामक हैं, सही नहीं है, उनके द्वारा साहित्य के क्षेत्र मे अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना है तो मेरे कान पकड़े जायेंगे ही और मुझे अपनी भूल सुधारने का अवसर प्राप्त होगा।

'ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन-प्रक्रिया, 'आलोचना के सम्यक् प्रश्नोत्तर', 'भाषा की शक्ति' तथा 'साहित्य में अहिंसात्मक अभिव्यक्ति' इन चार लेखो की ओर सुधीजनों का ध्यान मैं विशेष रूप से आकर्षित करना चाहूँगा। मैं साहित्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने के लिये बदनाम हूं। कहा जाता है कि साहित्य को अचेतन का विजृंभण मात्र मानता हूँ। यह बात सही है। पर मेरे अन्दर विचित्र विरोधाभास है। एक ओर तो अचेतन प्रवृत्तियों को प्रधानता देता हूं दूसरी ओर यह भी कहता हूँ कि" भाषा वैशिष्ट्यमेव काव्यम्" काव्यत्व का निवास भाषा मे है, भाव मे नही। आलोचक होते हैं जो प्राचीन कवियो पर नये संदर्भ मे, आधुनिक दृष्टि से विचार करते है। और मै हूँ कि आधुनिक को भी प्राचीन दृष्टि से (अचेतन भी आदिम, प्राचीन ही है) देखने की चेष्टा करता हूं। इस घलामेला से जो दृष्टि बनती है, वही मेरी है। साहित्य के सम्बन्ध मे कोई इदमित्थं बात कह सकेगा इसका भरोसा तो नहीं है पर इस तरह विचार करते रहने से इसके अनेक पहलू स्पष्ट होकर सामने आते रहेंगे यह विश्वास ही हमे अनर्गल से लगने वाले प्रलापो के बीच थामे रहा है।

कला तथा साहित्य को भी गणितीय सूत्र के सहारे ईदृक्तया तथा इयत्तया पहचान लेने की चेष्टा होती रही है। प्लेटो ने अपने TIMAEUS नामक ग्रन्थ में लिखा "That triangle which we consider to be the most beautiful of all...is that of which the double forms a third equilateral triangle".

अर्थात् वह त्रिभुज सर्व-सुन्दर है जिसे दुहरा देने से समद्विबाहु त्रिभुज बन जाता है। नीचे के चित्रों के देखने से प्लेटो की बातें स्पष्ट होंगी। बाईं

ओर जो त्रिभुज है उसी के आधार पर तथा उसी मे थोड़ा जोड़-तोड़ कर देने से अनेक प्रकार के चित्र-रूपों की रचना हो जाती है। उसी तरह शोपेनहर तथा फेचनर ने भी प्रायोगिक स्तर पर सौंदर्य-मूलक फारमूले निकाले थे।

आधुनिक युग में अमेरिकी गणितज्ञ जार्ज डी० बिरखोफ (GEORGE D. BIRKHOFF) ने अपनी पुस्तक Aesthetic Measure मे चाक्षुपकला, कविता, संगीत की परख के लिये एक सूत्र का निर्माण किया था $M = \frac{O}{C}$। इसमे M का अर्थ है Aesthetic Measure अर्थात् सौंदर्य का मापदण्ड। O का अर्थ है Order अर्थात् व्यवस्था, C का अर्थ है Complexity अर्थात् जटिलता। मतलब यह कि वही कला सुन्दर होगी जिसमे व्यवस्था तथा जटिलता, एकत्व तथा अनेकत्व का समन्वय होगा। समीकरण के सूत्र में कहने से बात नई मालूम पड़ती है पर बात वही है जिसे 'अविभक्तं विभक्तेषु' के रूप में पहले कहा जा चुका है। पर फिर भी बातें पुरानी ही नहीं है। इसमें कुछ नूतनता है। हमे पुराने तथ्यों को ही फिर से अपने युग मे आविष्कृत करना होगा।

आधुनिक आलोचना की प्रगति को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि उसका इतिहास विज्ञान के साथ सगति बैठाने के प्रयास का इतिहास है। आज का युग विज्ञान का है, मनोविज्ञान का है। आलोचना यही चाह रही है कि वह अजनबी-सी भी न लगे और अपने मौलिक स्वरूप की भी रक्षा करे। इसके लिये वह क्या कर रही है इसका कुछ हल्का सा भी आभास इस पुस्तक के द्वारा मिल जाय तो यह कृतार्थ हो जायेगी।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड मे कुछ अनुसंधानसम्बन्धी लेख संगृहीत है। इस तरह के मेरे लेखो के प्रकाशन का यह प्रथम अवसर है। मेरे निरीक्षण में कुछ छात्रों ने शोध-कार्य किये भी हैं। पर सच पूछिये तो मुझे अपने विषय मे अनेक तरह की आशाकायें रही है उनमें एक यह भी है कि मुझ मे अनुसंधान

की प्रतिभा, लगन, क्षमता है भी या नहीं। शोधक सत्यान्वेषी होता है, वह बहुत कुछ वैज्ञानिक का समीपवर्ती है और वह प्रयोगशाला के वातावरण का निर्माण अपने लिये भी करना चाहता है। पर यह है बड़ा कठिन कार्य। तरह-तरह की परस्पर-विरोधिनी बातों के बीच से सत्य को ढूंढ निकालना टेढी खीर है। क्या आप विश्वास करेंगे कि अमेरिका के एक मानक विश्वकोष में ४७ ऐसे व्यक्तियो की जीवनी दी गई है जिनका कभी न अस्तित्व था और न है। इनमें एक ऐसे व्यक्ति की भी जीवनी दी गई है जिन्होंने १७८३ में दक्षिण अमेरिका मे संक्रामक रूप मे फैलने वाली विशूचिका (Cholera) से लोगों की रक्षा करने मे बड़ी तत्परता से काम लिया था। मजा यह है कि इतिहास यह बतलाता है कि दक्षिण अमेरिका मे प्रथम बार विशूचिका का प्रकोप उससे ५२ वर्ष बाद हुआ था और एक प्रामाणिक विश्वकोष में एक लेखक की कल्पना हवा मे एक ऐसा मुक्का मारती है कि वहा पुष्प विकसित हो जाते हैं। अनुसधान का पथ कितना पिच्छिल होता है इस बात की ओर इस पुस्तक में ध्यान आकर्षित किया गया है। आलोचना, वैदुष्य तथा अनुसंधान के स्वरूप के निर्धारण तथा इनकी सीमा की रेखा भी खीचने का प्रयास किया गया है।

मैं उन सब ग्रन्थो का, मित्रों का तथा सहयोगियो का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने किसी न किसी तरह मुझे प्रोत्साहित किया है। अनुपम प्रकाशन, जयपुर के उत्साही नवयुवक श्री मोहन जैन का हृदय से आभार स्वीकृत करता हूँ जिनके उत्साह से ही यह पुस्तक प्रकाश मे आई। डा० गं० शं० महाजनी, उपकुलपति, उदयपुर विश्व विद्यालय, उदयपुर ने जो अपने बहुमूल्य क्षणो मे से दो चार क्षण निकाल कर इस पुस्तक को भी देने की कृपा की और दो चार आशीर्वादात्मक शब्द लिखे उसे विनम्र हृदय से स्वीकार करता हूँ।

देवराज उपाध्याय

उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर
जनवरी १९७०

विषय-क्रम

●●●

प्रथम खण्ड

साहित्य की समस्यायें

1. ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन-प्रक्रिया
2. आलोचना के सम्यक्प्रश्नोत्तर
3. रस-सिद्धान्त
4. भाषा की शक्ति
5. साहित्य में अहिंसात्मक अभिव्यक्ति
6. मिश्रजी की साहित्यिक उपपत्तियां : एक विचार
7. प्रकृतवादी उपन्यास
8. साहित्य और जीवनवृत्त

१

ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन-प्रक्रिया

इस निवन्ध का शीर्षक है ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में रचना-प्रक्रिया। भाषाविज्ञानियों ने वाक्य में दो तत्त्व माने हैं—अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व। इन दोनों में अर्थतत्त्व की ही प्रधानता है। सम्बन्धतत्त्व का कार्य है भिन्न-भिन्न अर्थतत्त्वो का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करना। 'राम ने रावण को बाण से मारा' स्पष्ट है कि इस वाक्य में राम, रावण, बाण, मारा—ये अर्थतत्त्व हैं, ने, को, से तथा 'मारा' में घुला-मिला 'आ तत्त्व' ये चार सम्बन्ध तत्त्व हैं जो अर्थतत्त्वों की पारस्परिक संगति बतलाते हैं। हमारे निबन्ध के शीर्षक में भी ज्ञान, विज्ञान, रचना-प्रक्रिया इत्यादि ही अर्थतत्त्व हैं और प्रमुख तो हैं ही। अतः, इनके स्वरूप को ठीक तरह से समझा जाय, क्योंकि विषय का सम्यक् अवबोध, समस्या को सुलझे हुए ढंग से रखना, स्वयं ही आधा उत्तर या समाधान है। विश्व मे जो इतना प्रपंच चल रहा है, आपस मे जो इतना रगड-झगड़ चल रहा है, वह इसीलिये है कि वहां कुछ ऐसी वस्तु है जो मूलतः जोड़नेवाली है, तोड़नेवाली नही, अमोघ और अखंड है और यह जो तोड़-फोड है वह जोड के आवरण को दूर करने का ही दूसरा नाम है। जैसे-जैसे यह आवरण हटता जायेगा परमैक्य की निर्मलता दीखती जायेगी। पर यह आवरण कैसे हटाया जाय? इसका उत्तर यही है कि प्रश्न को ठीक तरह से, अपने पूरे व्यक्तित्व से समझने का प्रयत्न हो तो प्रकृति स्वयमेव अपने को निरावृत करती जायेगी। पूरे व्यक्तित्व का अर्थ केवल बुद्धि नही, भावना नही। मतलब है उससे, जिसे अंग्रेजी में whole man कहते हैं और जहां बुद्धि या भावना अपना अलग अस्तित्व बना कर स्वतन्त्र रूप में कार्य नही करती है।

आज भी हम समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। बल्कि कहना तो यही चाहिये कि आज का मानव इस बात पर गर्व करता है कि वह अपने सुदूर पूर्वजो से यदि किसी बात मे बढ़ा-चढ़ा है तो प्राकृतिक घटनाओ, वस्तु-

जातों, सर्वारम्भो के वास्तविक स्वरूप की ज्ञानोपलब्धि मे। पहले के लोग घटनाओं के सच्चे स्वरूप को नही समझते थे। आज यह तो शायद कोई दावा नही करेगा कि उसने सत् तत्त्व का सर्वतोमुखी ज्ञान प्राप्त कर ही लिया है, अब जानने के लिए कुछ रह ही नही गया है पर हमने ज्ञान की राह में पर्याप्त उन्नति कर ली है और प्रगति की राह जो हमने पकड़ी है वह सही है। हमने अपनी सुविधा के लिए जीवन को कुछ खंडो में बाँट लिया है। सबों की सुरक्षा के लिए विशेषज्ञों की सेना तैयार कर ली है, जो सब अस्त्र-शस्त्रों से लैस हो कर तत्तत् प्रदेश की रक्षा करती है। हम साधारण लोग इनके नेतृत्व में सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। जो लोग इनके नेतृत्व से दूर हैं और इनके बताये मार्ग का अनुसरण नही करते वे भी रहते तो होगे सुख से ही, पर हम ऐसा ही समझते हैं कि वे दयनीय हैं, पिछड़े हुए हैं, दुखी हैं, इनका उद्धार होना चाहिये। अत हम सारी मानवता को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। विज्ञानी, ज्ञानी और अज्ञानी। विज्ञानी मतलब विशेषज्ञ, ज्ञानी का अर्थ विशेषज्ञो के बतलाये मार्ग पर चलने वाले सभ्य व्यक्ति, अज्ञानी का मतलब आदिम व्यक्ति (Primitive man), जिनके पास ज्ञान-विज्ञानलोक की किरणे कम पहुँच पाई हैं।

इन तीनों वर्गो के व्यक्तियों की विचार-प्रक्रिया मे महान् अन्तर होता है। ये तीनों एक प्रकार से नही सोचते और न स्वेतर घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रति समान रूप से प्रतिक्रिया-तत्पर होते हैं। मैं यही कहने जा रहा हूँ कि इन तीनो वर्गो के व्यक्तियो मे तीसरे वर्ग आदिम व्यक्ति अर्थात् (Primitive man) की चित्तावस्था सृजन के अधिक अनुकूल पड़ती है। अतः, आदिम व्यक्ति की चित्तावस्था कैसी होती है, इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है। विशेषज्ञ मे, ज्ञान और विज्ञान के बोझ से लदे हुए मानव मे सृजन की क्षमता का ह्रास हो जाता है। सृजन के लिये मनुष्य को हलका-फुलका होना चाहिये, उसमे स्फूर्ति, उमंग और उत्साह होना चाहिये, उसमें स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पर विज्ञानी मतलब, विशेषज्ञ अपने सिद्धान्तों तथा मान्यताओं की परतन्त्रता मे रहता है, सारे ज्ञान-संभार उसके पीछे-पीछे लगे रहते हैं और वह जहां कहीं भी इधर-उधर हुआ तो उसे रोक देते हैं। परिणाम यह होता है कि वह तल्लीनता टूट जाती है और सृजन-क्रिया विपन्न हो जाती है। विशेषज्ञ की उपलब्धियों के प्रति मैं अनास्थावान नही हूँ, अपनी विशेषज्ञता का भार होते भी उसमे ऐसी उपलब्धियों की सम्पन्नता आ सकती है, जिन्हे देख कर हम

दांतों तले उंगली दबायें, आश्चर्य-चकित हों और उनके द्वारा हमारे जीवन की कठिनाइयां बहुत अंशों में दूर हों। पर वह सृजक नहीं हो सकता, कवि नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें उस स्वतन्त्रता की स्फूर्ति नहीं है, जिसे देख कर कहा गया था —

अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैवेदं प्रवर्त्तते॥

मतलब विशेषज्ञ सब कुछ हो सकता है पर वह प्रजापति नहीं हो सकता, जिसकी कृति है तो बहुत बड़ी चीज पर अन्ततः है वह उसकी लीला ही, जिसमें उसके श्रम-बिन्दुओं का, बोझ से नमित मुद्रा का नहीं, परन्तु सहज-प्रसन्न-स्तिमित प्रवाह का दर्शन होता है और जो हमारे हृदय में भी प्रसन्नता की लहर लहरा दे। विशेषज्ञता से मेरा विरोध नहीं है। परन्तु निवेदन इतना ही है कि सृजन-वेला में इस विशेषज्ञता को किसी न किसी प्रकार अपनी सत्ता समेटनी होगी। और जिस विशेषज्ञता के समेटने की बात कर रहा हूँ, वह साहित्येतर विशेषज्ञता तक ही सीमित नहीं है। उसकी व्यापकता साहित्य-सम्बन्धी विशेषज्ञता तक फैली हुई है। कल्पना कीजिए कि एक अभिनय करने वाला नट या नटी है। वह राम या सीता का अभिनय करने वाला है। उसने नाट्यकला का शिक्षण प्राप्त किया है। वह जानता है कि अमुक भाव के प्रदर्शन के लिए अमुक मुद्रा की अपेक्षा होती है, एक विशेष प्रकार से अंग-संचालन की आवश्यकता पड़ती है। ये सब बातें बहुत उपयोगी हो सकती हैं और होती भी हैं। पर प्रत्येक अभिनेता का अनुभव इस बात का साक्षी है कि अभिनय की सफलता के लिये अभिनय-वेला में इन शिक्षाओं को भूल जाना पड़ता है। यदि अभिनय करते समय कला-केन्द्र में प्राप्त शिक्षा के सूत्रों की याद आने लगे तो समझ लीजिए कि सब चौपट हुआ, सारा गुड़ गोबर हुआ। यह भी नहीं कि अभिनेता जानबूझकर अपनी शिक्षाकला को भूल जाता है। नहीं, सृजन की सक्षमता सब को दबोच कर सामने आ जाती है और अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा करती है। एक शायर ने जवानों की प्रशस्ति गाते हुए कहा था—

उकाबी रूह जब बेदार होती है जवानों में
नजर आती है उनको अपनी किस्मत आसमानों में।
नहीं तेरा नशेमन क़सरेसुलतानी के गुम्बद पर
तू शाहीं है बसेरा कर पहाड़ों की चटानों में।

सृजक इसी तरह का जवान होता है। जब सृजन की रूह उस पर बेदार होती है तो क़सरेसुलतानी के गुम्बद उसे भूल जाते हैं और उसे आसमान तथा पहाड़ों की चटानों की स्वच्छन्दता नजर आने लगती है।

इसी प्रसंग में मेरे मस्तिष्क मे मनोविज्ञान का वह नियम सक्रियता पर आ रहा है जिसे साहचर्य नियम कहते हैं (Laws of Association) इसी को शुक्ल जी ने साहचर्य भावना कहा है। वंशी को देखकर कृष्ण की याद आ जाती है और धनुष को देखकर राम की। साहित्यदर्पण में एक श्लोक आता है जो स्मरान्वा प्रगल्मा नायिका के उदाहरण में दिया गया है—

> धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
> विश्रब्ध-चाटुक-शतानि रतान्तरेषु।
> नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
> सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि॥

सृजन-प्रक्रिया में संलग्न व्यक्ति के लिये यह श्लोक अच्छा उदाहरण हो सकता है।

कविकण्ठाभरण के रचयिता के सन्मुख भी काव्य-सृजन का प्रश्न उपस्थित हुआ था। उनका निष्कर्ष यह था कि दो प्रकार के व्यक्ति को काव्याभ्यास नही कराया जा सकता। एक तो वह जो स्वभाव से ही पत्थर है, जड है, लाख प्रयत्नों के बावजूद भी जिसमे आर्द्रता का संचार नही किया जा सकता। ऐसे व्यक्ति को उन्होंने प्रकृत्याश्मसमान कहा। दूसरे प्रकार के सृजना-क्षम व्यक्ति को उन्होंने नष्ट-साधन कहा। यह ऐसा व्यक्ति होता है—जिसकी संवेदनशीलता नष्ट हो चुकी है। न तो गर्दभ को संगीत कला की शिक्षा दी जा सकती है और न अंधे को सूर्य का दर्शन कराया जा सकता है। अतः, हम गदहों की या अंधो की बात नही करते, जब सृजन-प्रक्रिया की चर्चा करते हैं। क्षेमेन्द्र का श्लोक यह है—

> यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
> तर्केण दग्धोऽनल-धूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥
> न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् शिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
> न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

उन्हीं की गवाही पर इन दो तरह के व्यक्तियों को छोड़कर ही सृजन-प्रक्रिया-संबंधी विचार हो सकता है।

इस विषय पर काव्यप्रकाशकार मम्मट के विचार भी प्रसिद्ध हैं। उन्होने काव्य-हेतु की चर्चा करते हुए कहा है—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् कवित्व बीज रूप संस्कारविशेष शक्ति, लोक-शास्त्र-काव्याद्य-वेक्षण से प्राप्त निपुणता, काव्यज्ञ गुरु से प्राप्त अभ्यास—ये तीन बातें काव्य-सृजन के हेतुभूत हैं। लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षण की विवृति करते हुए उन्होने कहा—लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दो-व्याकरण-अभिधान-कोश-कला-चतुर्वर्ग-गज-तुरंग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्। इन शब्दों को मैं इसलिये उद्धृत कर रहा हूँ कि हमारे निबंध के शीर्षक के रूप में जो ज्ञान और विज्ञान का संदर्भ दिया गया है उसमें और मम्मट के वाक्यांशों मे कितना साम्य है। कभी-कभी तो यह कल्पना भी होती है कि हमें इस विषय पर विचार करने के लिए जब कहा जा रहा था और मैं उसे स्वीकार कर रहा था तो कहीं दाता और ग्रहीता दोनों पर मम्मट की ही आत्मा प्रच्छन्न रूप से सक्रिय तो नही थी !

इसी तरह अन्य साहित्यशास्त्रियो ने भी काव्य-सृजन पर विचार प्रकट किया है। ऊपर दो मतों का उल्लेख किया गया है—(१) एक मत के अनुसार ज्ञान-विज्ञान के आधिक्य से सृजन-क्रिया में बाधा उपस्थित होती है। सृजक को अपनी मौलिक प्रतिभा पर अधिक भरोसा करना चाहिए। (२) दूसरे की राय मे लोक-काव्याद्यवेक्षण सृजन का प्रमुख और आवश्यक घटक है। काव्य-मीमांसा के लेखक राजशेखर का ऐसा ही मत था। इस प्रसंग मे एक रोचक कहानी कही जाती है। एक राजा की सभा में एक ऐसे आशुकवि आये जो बात की बात मे कविता बना लेते थे। एक घंटे मे १०० श्लोक। घटिकाशतक। राजा ने अपने कवियों से पूछा कि आप लोगो में ऐसी शक्ति क्यों नही। कवियों ने कहा, इसमें शास्त्र-ज्ञान की कमी है। जिसे शास्त्र का ज्ञान होगा वह इतना शीघ्र श्लोक नही बना सकेगा। राजा ने नये कवि को कुछ दिन शास्त्र पढ़ कर आने के लिए कहा। पण्डित जी उन्हें तत्वचिन्तामणि का प्रामाण्यवाद पढ़ाने लगे। दस दिन के बाद वे राज-सभा में उपस्थित हुए तो समस्या देने पर सर खुजलाने लगे। कागज मांगने लगे। सब श्लोक बनाया। पहले इन सब वस्तुओ की आवश्यकता नही पड़ी थी। दस दिन के बाद गये तो बहुत प्रयत्न करने पर आधा श्लोक ही बना सके—

नमः प्रमाण्यवादाय सत्कवित्वापहारिणे ।

तार्किक कवियों की ओर से भी अपने पक्ष के समर्थन में बातें कही जाती हैं। जयदेव के प्रसन्नराघव में पारिपार्श्वक का प्रश्न है "ये तार्किक होते हुए भी कवि हैं, आश्चर्य !" इसके उत्तर में सूत्रधार कहता है—

येषां कोमलकाव्यकौशल-कला-लीलावती भारती
तेषां कर्कश-तर्क-वक्र-रचनोद्‌गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुच-कुड्मले करुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्र-कुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

अर्थात् कोमल काव्य-कला में तर्क की कर्कशता बाधक क्यों होने लगी भला। जो कान्ता-कुच-कुड्मल पर हाथों से केलि करता है वह उन्हीं हाथो से बाण चला कर मत्त गजेन्द्र का मस्तक विदारित नही कर सकता क्या ? इनकी एक और भी गौरवपूर्ण उक्ति प्रसिद्ध है।

तर्केषु कर्कशधियो वयमेव नान्यः
काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्यः ।
कान्तासु रञ्जितधियो वयमेव नान्यः
कृष्णे समर्पितधियो वयमेव नान्यः ॥

इसी तरह की एक गर्वोक्ति पंडितराज जगन्नाथ की भी कही जाती है। पंडितराज ने बहुत ही पांडित्यपूर्ण रसगंगाधर नामक साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखा है और उसमें स्वरचित उदाहरण दिये हैं जिनका माधुर्य भी अपूर्व है। उनका दावा है कि पांडित्य अर्थात् ज्ञान-विज्ञान-संपन्नत्व कवित्व में बाधक नही है। हो तो साधक भी हो सकता है ।

बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरितम्' में कहा है—

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां
साहित्य - विद्याश्रम - वर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमंगनानां
केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः ॥

उसी तरह मङ्खक का भी एक श्लोक है—

अज्ञात - पाण्डित्य - रहस्यमुद्रा
ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम् ॥
ते गारुडीयाननधीत्य मंत्रा-
न्हालाहलाऽऽस्वादनमारभन्ते ॥

अतः, ज्ञान और विज्ञान तथा कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध मे दो तरह की विचार-धाराएँ मिलती हैं। एक ज्ञान-विज्ञान के विस्तार को सृजन मे बाधक मानती है। हिन्दी में जैनेद्र इस धारा के अच्छे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। दूसरी धारा इसे सृजन मे साधक मानती है, कम से कम इसे सृजन-प्रक्रिया मे बाधक नही समझती।

इसी तरह इस विषय पर यूरोपीय विद्वानों के विचार भी सगृहीत किये जा सकते हैं। हेनरी जेम्स ने अपने उपन्यासो की भूमिकायें लिखी है और उनमे इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है कि उनको अपने उपन्यासों के लिए कहाँ से बीज प्राप्त हुए और वे किन-किन मानसिक परिस्थितियों से गुजर कर पूर्ण औपन्यासिक रूप धारण कर सके। अपने उपन्यास Spoils of Poynton के उद्गम के बारे मे लिखा है कि उन्हें इतनी सी खबर मिली कि एक मां और पुत्र में आसन्नमृत्यु पिता के बहुमूल्य फर्नीचरों के बटवारे के प्रश्न को ले कर बड़ा वैमनस्य हो गया। बस इतनीसी बात ने जेम्स के व्यक्तित्व के उस रंध्र को छू दिया जहाँ से सृजन की क्रिया प्रारंभ होती है। जब लोगों ने इस घटना को विस्तार-पूर्वक बतलाने की कोशिश की, कि दोनों के वैमनस्य ने आगे चल कर क्या रूप धारण किया, इस वैमनस्य को प्रोत्साहन देने वाली कौन-कौन सी शक्तियां थी तो हेनरी जेम्स ने अपने कान मूंद लिये और सुनना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि ज्ञान मुक्ति भले ही देता हो वह दार्शनिकों के लिये होगा पर यहाँ पर तो अतिज्ञानात् कविर्बद्धः वाली बात होगी जैसे 'अतिदानात् बलिर्बद्धः'। एक बार फ्लाबर को किसी के चितारोहण का वर्णन करना था। वे किसी शव-यात्रा में सम्मिलित हो कर श्मशान-भूमि मे गये। ताकि first hand experience प्राप्त कर अपने वर्णन को सजीव बना सकें। पर वहाँ पर जो दृश्य देखा तो बड़े निराश हुए। भला इससे वर्णन को कैसे सजीव बनाया जा सकता है। मतलब यह कि वे भी इसी निर्णय पर पहुचे कि 'अतिज्ञानात् कविर्बद्धः'।

ज्ञान के आतिशय्य की कथा भी आज विचित्र है। बहुत पहले की बात नही कहता जब कि मानव आदिम अवस्था में था। उस समय तो जीवन ही था, अपने सम्पूर्ण रूप मे। ज्ञान नामक वस्तु का अलग अस्तित्व था ही नही। हम थे और हम को ही लेकर सारा जीवनचक्र था। पर जब से पृथक्त्व का बोध जगा, स्व और पर, स्वेतर कहना अधिक संगत है, की भावना आई तब से ज्ञान का आधिपत्य बढ़ने लगा। लेकिन अभी भी ज्ञान का जीवन से सम्बन्ध-

सूत्र बना हुआ था। परन्तु आज ४०० वर्षो से ज्ञान ने विज्ञान बन कर जीवन के क्षेत्र पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया है और वहां अपना अधिकार जमाता जा रहा है। १६वी शताब्दी मे खगोल (Astronomy), भूगोल (Geography) तथा शरीरशास्त्र ने जीवन के एक बड़े भाग पर आक्रमण किया और अधिकार जमाया, १७ वी शताब्दी मे भौतिकी (Physics) तथा रासायनिकी (Chemistry) ने कुछ भाग को स्वायत्त किया, १८ वी शताब्दी में अर्थशास्त्र (Economics) तथा राजनीति (Politics) ने पैर फैलाये, १९ वी शताब्दी मे प्राणिशास्त्र (Biology) तथा समाजशास्त्र (Sociology) की दुहाई फिरी और आज २०वी शताब्दी मे मनोविज्ञान का बोलबाला है।

मतलब यह कि जीवन की चप्पा-चप्पा जमीन मानव के हाथ से छिन गई और उस पर विशेषज्ञो ने, विज्ञानियो ने अधिकार कर लिया। पहले मानव अर्थात् सृजक अर्थात् कवि ही सब कुछ था। जीवन में किसी प्रकार के संकट उपस्थित होने पर, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक या शारीरिक भी वैषम्य होने पर हमारे पूर्वज कवि, तुलसी, होमर, ब्राउनिंग के पास जा कर राय लेते थे पर अब किसी मनोविश्लेषक, अर्थशास्त्री अथवा तत्तद्विषयक विशेषज्ञ के पास जाते हैं। कवि को सब स्थानो से खदेड़ दिया गया है। अब वह क्या करे ? एक बार जब सरस्वती रोने लगी कि "किं करोमि क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति", तो सुनते हैं, कुमारिल भट्ट ने उसे आश्वस्त किया 'मा रोदिहि वरारोहे, भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।" मैं अभी जीवित हूं। चिन्ता मत करो। ऐसी परिस्थिति में कवि की रक्षा कौन करे ?

एक बात निश्चित है कि कवि को अपनी स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। उसे अपनी सीमा स्वीकार कर लेनी चाहिए। अब वह किसी चीज का ज्ञान नही दे सकता। कुछ समय पूर्व उसके साथ कितनी रियायत की गई थी कि (To teach with delight) कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे पर अब वह सुविधा भी छीन ली गई है। उसे मान लेना चाहिये कि कवि विशुद्ध कवि के रूप मे कुछ नहीं जानता। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे वह कुछ विश्वसनीय, उपयोगी काम लायक बात कहेगा ऐसा भरोसा कवि से नही किया जा सकता। कोई भी समझदार यह नही कह सकता कि T. S. Eliot का Waste Land अथवा अज्ञेय का 'चिड़िया' नामक काव्य हमारे जीवन की किसी समस्या को हल करता है या हमारे किसी प्रश्न का समाधान करता है। ज्ञान-दान के नाम पर, पुरस्कार-वितरण के नाम पर आप कवि के अस्तित्व की रक्षा नही कर सकते।

एक ही उपाय है जिसके द्वारा कवि की, सृजक की, कलाकार की रक्षा हो सकती है। कवि स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार करे कि अभिव्यक्ति के दो क्षेत्र होते हैं और दोनो स्पष्टतया पृथक हैं। दोनो के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा है। एक होती है अनुभूति और एक होता है अनुभूति का ज्ञान, दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। कवि विशुद्ध कवि के रूप मे अनुभूति को ही प्रेषणीय बनाता है और अनुभूति के ज्ञान को नहीं। जो जीवनानुभूति के ज्ञान को प्रेषणीय बनाता है, जीवन के संबंध में कुछ बात करने की चेष्टा करता है वह विशुद्ध अनुभूति को प्रेषणीय बनाने मे सफल नही हो सकता। मैं स्पष्ट शब्दो मे कवियो से कहना चाहता हूँ कि जीवन के क्षेत्र पर ज्ञान और विज्ञान की विजयवाहिनी के विजय-अभियान ने जो स्थिति पैदा कर दी है, उसे ठीक तरह से समझें और विज्ञान और ज्ञान से कह दें कि तुम से हमारा कोई विरोध नही। तुम्हारा क्षेत्र अलग, हमारा अलग। तुम्हारे पास ज्ञान की सम्पत्ति है, उसका उपयोग करो तो हमे क्या आपत्ति हो सकती है। मेरा क्षेत्र अनुभूति है, मै उसे प्रेषणीय बनाता हूँ तो तुम्हे क्यों ईर्ष्या। एक जमाना था कि हम तुम साथ थे। पर अब तो तुमने हमारा साथ छोड़ दिया, तुमने जब मुहब्बत तर्क की तो मैंने भी किनाराकशी कर ली—

जब से दिलेनावां तूने मुहब्बत तोड़ी।
तब से मैंने भी तेरी राम-कहानी छोड़ी॥

यह मत समझिए कि केवल कवि को ही ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। आपको याद होगा जब कि 'सुरसा नाम अहिन की माता' ने समुद्रोल्लंघनोद्यत हनुमान के मार्ग को छेंका तो पहले तो हनुमान ने बहुत उपायो से काम लिया। 'जस जस सुरसा बदन बढावा, तासु दुगुन कपि रुप दिखावा। पर जब शत-योजन मुख भयऊ, अति लघु रूप पवन-सुत लयऊँ। अब ज्ञान-विज्ञान रूपी सुरसा ने बहुत मुख फैला लिया है, अब कवि को उसके साथ प्रतिस्पर्धा करने से काम नही चलेगा। अब नम्र हो जाना है, अति लघु बन जाना है। पता नही हमारे कवि ने जब यह कहा—'कँप कँप हिलोर रह जाती रे मिलता नहीं किनारा। बुदबुद विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा' तो उसके अन्दर कौन सी प्रेरणा थी पर शायद उसकी अन्त:प्रज्ञा ने परिस्थिति का ठीक आकलन किया था। अत:, इस ज्ञान का सामना कवि को अज्ञान से करना चाहिए। जैनेन्द्र जी आज-कल अकर्म की फिलासफी का प्रचार कर रहे हैं। इस युग में मै अज्ञान की वकालत करूँ तो इसे बुरा नही मानना चाहिये।

यह नही कि आज के लेखक को ज्ञानप्राप्ति से घृणा है, वह ज्ञान प्राप्ति से घृणा करता है। यदि वह ऐसा करे भी तो उत्तराधिकार के रूप में जो ज्ञान-राशि प्राप्त हुई है, उससे तो पिण्ड छूटने से रहा। आज का साधारण विद्यार्थी भी ज्ञान और विज्ञान की उस सम्पन्नता का दावा कर सकता है जो होमर, दान्ते अथवा कालिदास के लिये कभी मुयस्सर नही था पर फिर भी वे महान् सृजक थे, वैसे सृजक जिनकी तुलना मे भी कठिनता से कोई एक दो व्यक्ति आ सकते हैं। बात सिर्फ इतनी सी है कि कवि वस्तुस्थिति को ठीक से समझ ले, कि वह दूसरो की शर्तों पर सृजन की लड़ाई नही लड़ेगा। शर्तें उसकी अपनी रहेगी तभी वह सृजन-कर्म मे प्रवृत्त होगा। पहले यह बात सम्भव थी (क्यों सम्भव थी यह बतलाने का अवसर नही है) पर अब यह बात नहीं चल सकती। कवि को अब सिमटना होगा, सृजन की क्षमता उत्पन्न करनी होगी। उसे यह विश्वास करना होगा कि रामचरित मे काव्यत्व नही, काव्यत्व है तो कवि मे। कवेः कर्म एव काव्यम्। आपको याद होगा वनवास के दिनों मे अर्जुन को, खोई हुई राज्यश्री की पुनः प्राप्ति के लिये अमोघ अस्त्रों की सिद्धि के लिए उपदेश-हेतु व्यास जी आये। उन्होने कहा—

> लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
> अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतंत्रा हि रणे जयश्रीः॥

यह ठीक बात है कि 'प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः' जयश्री प्रकर्षतन्त्रा होती है। कवि स्वप्रकर्ष को जागरित करे। वास्तव मे कवि सदा यही करते आये है। कालिदास ने कभी इतिहास की परवाह की ? शेक्सपियर ने कथाओं को तो इतिहास से ही लिया पर उनके हाथो मे पड़ कर वे कथायें न जाने क्या से क्या हो गई। अंगूर मे पानी की दो चार बूँदे ही तो धरी थी पर कवि ने उन्हें खीच कर तलवार बना दिया।

ज्ञान और विज्ञान की प्रगति से आज की कविता डरती तो नहीं है पर १९वी शताब्दी मे तो इस सर्वग्रासिनी प्रवृत्ति ने लोगों को चिन्ता मे डाल दिया था। Peacock ने तो अपनी पुस्तक (Four Ages of Poetry) में कविता के लिये कूंच का डंका ही बजा दिया कि कविता अपनी प्रकृत मृत्यु को प्राप्त हो गई। एक शायर ने बड़े ही करुण ढंग से कहा 'शायरी मर गई जिन्दा न होगी यारो'। पर Wordsworth ने जम कर मोर्चा लिया और Lyrical Ballads की भूमिका मे कवियो की ओर से ललकार भरे स्वर में कहा कि ज्ञान-विज्ञान हमारी सीमा पर जो सैनिक प्रदर्शन कर रहे हैं उससे

घबड़ाने की ज़रूरत नही है। If Labours of men of science should ever create material revolution, direct or indirect, in our condition, and in the impression, which we habitually receive, the Poet will sleep then no more than at present but he will be ready to follow the steps of the man of science not only in those indirect effects, but he will be at his side, carrying sensation into the midst of object of science itself. The remotest discoveries of the Chemist, the Botanist, or Mineralogist, will be proper objects of poet's art as any upon which it can be employed. If the time should ever come when these things shall be familiar to us and the relations under which they are contemplated by the followers of their respective science shall be manifestly and palpably material to us as enjoying and suffering beings, if the time should ever come when what is now called science familiarised to men, shall be ready to put on, as it were, a form of flesh & blood, the poet will lend his divine spirit to aid transfiguration, and will welcome the being thus produced, as a dear & genuine inmate of the household of man. आधुनिक समर-विशारदों के अनुसार यह नियम है कि यदि अपनी सीमा पर शत्रु की ओर से आक्रमण की आशका हो तो उसके घर में प्रवेश कर वही से रक्षा-पक्ति बना कर युद्ध करना चाहिये—Enemey's home isthe first line of defence। यही वर्ड्स्वर्थ कर रहे हैं। ज्ञान और विज्ञान बढ़ रहे हैं कोई परवाह नही। कवि उनके घर मे प्रवेश कर उनकी तोपो को ही लेकर उनका मुंह उनके विरुद्ध घुमा देगा।

अस्तु, अब तक मै कवि के अस्तित्व की रक्षा के लिए चिन्ता मे था। अब इसकी व्यवस्था हो गई पर इतने से ही तो काम नही चलेगा। उसे सृजन भी तो करना है न। सृजन मानव-मस्तिष्क के द्वारा मानव-मस्तिष्क के लिए होता है। मनुष्य जन्मना सृजक होता है। वह किसी वाह्य वस्तु को ज्यों का त्यो नहीं ग्रहण करता, वह उसे एक ढाचे मे ढाल कर ही ग्रहण कर सकता है। उसे ग्रहण करने के लिए दूसरा साधन है ही नहीं। मस्तिष्क मे निसर्गत: कुछ forms होते हैं, जिन्हें अग्रेजी मे forms of minds कह सकते है।

मनुष्य में कुछ व्यवस्था अथवा प्रक्रियाओं से आनन्द प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यदि हम किसी वस्तु को धीरे-धीरे विकसित होकर चरमोत्कर्ष पर पहुंचते देखते हैं, दो विपरीतताओं को एक व्यापकतर एकता मे समन्वित हो कर अपने विरोध को भूलते देखते हैं तो हमें सुख होता है। अतः, इस तरह की व्यवस्था आनन्दप्रदायक होती है। इसी मूल तत्व के आधार पर सृजन प्रारम्भ होता है। आनन्द प्राप्त करना और आनन्द प्राप्त कराना सृजन की मूल प्रेरणा है। सृजक जानता है कि मनुष्य क्या चाहता है, कैसी बातों से आनन्दित होता है और उन्हें ही देता है। उदाहरणार्थ, बीज अंकुरित होता है, धीरे-धीरे विकसित होता है, चरमोत्कर्ष की अवस्था को प्राप्त कर वातावरण को अपने सौन्दर्य से मंडित कर देता है, हमे उसे देख कर सुखानुभूति होती है। यह मनुष्य की सहज और जन्मजात प्रवृत्ति है कि वह किसी तान के स्वरोत्कर्ष से आनन्द प्राप्त करता है। अतः, कोई भी कलाकार मनुष्य की इस कमजोरी से अवश्य ही लाभ उठायेगा। पर चूँकि स्वरोत्कर्ष का यह विचार केवल प्रत्ययमात्र है, विचारमात्र है, अमूर्त्त है इसलिये मानव हृदय-स्पर्शी होने के लिये इसे मूर्त बनना पड़ेगा। एक कहानी कहनी पड़ेगी। क और ख में एक प्रेमिका के लिए प्रतिद्वन्द्विता के भावों का बीज-वपन हो गया है, वह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और चरमोत्कर्ष की अवस्था पर क ख को गोली से मार देता है।

मनोवैज्ञानिकों ने सृजन-प्रक्रिया की स्वप्न-तंत्र से तुलना की है। कुछ लोग स्वप्न-तंत्र और रचना-तंत्र को एकही मानते हैं। स्वप्न मे दो भाग होते हैं— (१) प्रत्यक्ष वस्तु (manifest content) (२) आन्तरिक वस्तु (latent content) एक लड़की ने स्वप्न देखा कि उसने एक बिल्ली को अपनी छाती से दबाया और वह बिल्ली मर गई। पर वास्तविक बात तो यह है कि वह केट नामक अपनी सौतेली बहन की हत्या कर रही थी। यह स्वप्न भी उसी भावना का मूर्त रूप है। मतलब यह स्वप्नतंत्र या रचनातत्र दोनों मे किसी आंतरिक मूड को externalise किया जाता है, उसका बाह्यीकरण किया जाता है, अंतरंग वस्तु को बाहर उपस्थित किया जाता है। एक अंग्रेजी का वाक्य है, कि duty of an artist is to communicate a mood यही स्वप्न-द्रष्टा का भी कार्य है। दोनों अपनी-अपनी जानकारी कहिये ज्ञान-विज्ञान के आधार पर ही तो उसके बाह्यीकरण की सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मान लीजिये कोई सो रहा है। पाचन-क्रिया की गड़बड़ी के कारण शारीरिक शैथिल्य हो गया।

शारीरिक शैथिल्य ने मानसिक अवसाद उत्पन्न किया। उसके mood मे depression आ गया। परिणाम यह होगा कि अवसाद-मनोवृत्ति को मूर्त्त रूप देने के लिये सोनेवाले व्यक्ति का मस्तिष्क अपने जाग्रत जीवन के अनुभवक्षेत्र से सामग्री का चुनाव करने लगेगा। यदि व्यापार में घटी लगने की आशंका हो तो स्वप्न मे वह अपनी पूंजी के डूब जाने का स्वप्न देखेगा, विद्यार्थी परीक्षा मे असफलता का स्वप्न देखेगा, प्रेमी स्वप्न देखेगा कि उसकी प्रिया उसके प्रतिद्वन्द्वी के साथ प्रेम-वार्तालाप मे संलग्न है। मतलब मूड तो एक ही है। पर जहां जिस क्षेत्र में वह सामग्री प्राप्त करेगा उसी के सहारे अपना स्वरूप-विधान करेगा। यदि जीवन के अनेक क्षेत्रो मे स्वप्नद्रष्टा को आवसादिक अनुभव झेलने पड़े है तो सबो में से थोड़ा थोड़ा लेकर एक composite स्वप्न-चित्र का निर्माण होगा। स्वप्न के क्षेत्र मे जो काम जीवनानुभव करते हैं वही काम साहित्य-निर्माण प्रक्रिया मे ज्ञान और विज्ञान करते हैं, लेकिन फिर भी दोनों मे अन्तर है। और यह अन्तर टेकनीक का है। स्वप्न देखा जाता है अपने लिये, वहां विधाता और भोक्ता दोनो एक हैं। यदि वहां सामग्री बे-तरतीबवार भी रही है तो कोई हानि नही। अपना ही घर है, कोई बाहरी व्यक्ति है नही, चलो चीजें अस्त-व्यस्त हो रही तो क्या हानि ? अतः, दूसरों के innate form of mind वाला प्रश्न तो अपने साथ भी उठ सकता है पर यहा पर कोई विशेष हानि नही होती। इसलिये स्वप्न प्रायः ऊटपटाग होते हैं। आजकल भी कुछ कवियो की रचनाओं मे ऊटपटांगियत दीख पड़ती है। हालाकि यह बात है नही। पर जहा कही भी है वह स्वप्नो के समीप पड़ती है, कला के समीप नही। जहां स्वप्न में innate form of mind का ध्यान रहा और रखा गया वहां कविता की सृष्टि हुई। उदाहरणार्थ कालरिज की Kabla Khan। मेरा अपना अनुभव है स्वप्न मे कविता लिखी जा सकती है। मैंने कुछ कवितायें लिखी हैं, भाषण दिये हैं। आज अफसोस हो रहा है कि उन्हे लिपिबद्ध नही कर लिया। तब स्वप्न के स्वतन्त्र तथा जागृत-जगत् के रचना-तंत्र मे क्या अन्तर है ? कल्पना कीजिये कि जागृत कवि तथा प्रसुप्त स्वप्नदर्शी व्यक्ति भय, करुणा या आतक के भाव को externalise करना चाहते हैं, बाह्यीकरण करना चाहते हैं। मूर्त्त रूप देना चाहते हैं। उन्होंने हत्या के दृश्य देखे हैं, पढे हैं, सुने है, उनसे आतंकित भी हुए हैं। अतः, वे अपनी कल्पना की चित्ती कौड़ी फेंक कर उन सब दृश्यो को बुला भेजेंगे। यहां तक दोनो में सामानाधिकरण्य है, समानधर्मिता है, ऐक्य है। पर इतना ही करके यदि कोई रुक जाय तो वह कवि नही कहा जा सकता। उसे एक काम और करना बाकी है। उसने अपने mood (मनोवृत्ति)

के वाह्यीकरण की व्यवस्था कर दी । पर मनुष्य में किसी वस्तु को यथाक्रम निवेशित हो कर धीरे-धीरे विकसित होते हुए उसकी उत्कर्ष-प्राप्ति के देखने की जो नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है उस sense का वाह्यीकरण वाकी है। स्वप्नदर्शी व्यक्ति यह नही कर पाता । स्वप्नदर्शी तो अपने emotional form को individuate कर लेता है अर्थात् अपने mood को तो ज्यो त्यो करके मूर्त रूप देने मे सफल हो जाता है पर अभी तक वह Technical form को individuate नही कर सका है । यह काम कवि के लिये छोड दिया गया है । मतलब यह कि स्वप्न ने सृजनार्थ सारी सामग्री एकत्र कर दी है पर प्राण नही दे पाया है अथवा यदि प्राणो का संचार हो भी गया हो तो उसमे स्पदन नही आ पाया है, उसमे प्राणवत्ता नही आ पाई है ।

यहाँ पर दो वातें ऐसी सगत मालूम पडती हैं जिन्हें उद्धृत करने का लोभ मैं सवरण नही कर सकता । एक तो कालिदास की उक्ति को, दूसरे भारतीय नाट्यशास्त्र की नाटक-रचना-प्रक्रिया के सम्वन्ध में कही गई कुछ वातों को । विधाता को पार्वती की रचना करनी है । पार्वती की अर्थात् कला वस्तु की । उन्होने कौन-सी पद्धति से काम लिया, उनकी सृजन प्रक्रिया क्या थी ? इसका रहस्य कालिदास ने वताया है। इसका रहस्य कालिदास को किस तरह मालूम हुआ ? इस तरह मालूम हुआ कि कालिदास कवि थे तो विधाता ही थे। विधाता की वात विधाता जाने, इसमे क्या आश्चर्य है। खग जाने खग ही की भाषा । कालिदास कहते हैं ।

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेश विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौंदर्यदिदृक्षयेव ।

आप ध्यान से देखें Emotional form तथा Techical form के individuation की जो वात मैंने की वह सव इस श्लोक मे आ गई है । सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चय मे भावनाओं (mood) को समूर्त करने का प्रयास है, और यथाप्रदेशविनिवेशित में टेकनीक की वात भी कही गई है । जव mood और टेकनीक दोनो का मणिकांचनसंयोग होता है तभी महत्वपूर्ण कलावस्तु का सृजन सम्भव होता है । तभी यह सम्भव हुआ कि ऐसी पार्वती वनी कि—

चंद्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चांद्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मी ॥

भारतीय नाटकों का साधारण सा विद्यार्थी भी प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम रूपी कार्यावस्थाओं की, वीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और

कार्य-अर्थ-प्रकृतियों की बात जानता है। साथ ही सधियों की भी चर्चा की गई है। मेरी कल्पना मे यहाँ जिसे अर्थ-प्रकृति कहा गया है वही emotional form है अर्थात् नाटककार के द्वारा अपने mood तथा emotion को रूपायित करने के लिए, उनके individuation (व्यक्तीकरण) के लिये उपयोगी कच्ची सामग्री का एकत्रीकरण है। अब बाहरी रूपरेखा तैयार है, शायद इसमे प्राण का संचार भी हो गया हो, पर उसमे वह सशक्त, सजीव स्पदन नही आ सका है जो हठात् अपनी सत्ता का आरोप कर सके। कोई माने या न माने पर अनिच्छन्नपि मेहमान को स्वीकार करना पड़े, ऐसी शक्ति इसमे अभी नही आई है। स्पष्ट है कि कवि ने अपने पूरे साधनो से काम नही लिया है। उसने अपने स्वार्थ की सिद्धि तो कर ली, उसे संतोप तो हो गया कि उसने भावो को मूर्तिमान कर दिया। पर दूसरे भी उसके भावों का आनन्द ले सकें इसमे उसे सफलता प्राप्त करना बाकी है। यथा-प्रदेश-विनिवेश की जो शर्त कालिदास ने लगाई है उसका पूरा होना शेष है। यह यथा-प्रदेश-विनिवेश मानव का innate form of mind है। इसका सहारा जब कवि लेता है तभी उसकी रचना मे लोगो को साथ लेने की, प्रभावित करने की शक्ति आती है। यह कार्य नाटक की अवस्थायें करती है। यह यथाप्रदेश विनिवेशवाली मानस-वृत्ति (innate forms of mind) है जो अपनी तृप्ति की मांग करती है और जिसकी ओर से उदासीन रह कर कवि अपने कर्म की पूर्ण सफलता से वचित रहेगा। मैं उन्हें नाटक का अन्तरंग तत्व मानता हूँ, अर्थात् टेकनिकल तत्व। टेकनीक को अन्त-रंग तत्व कहना जरा ठीक न लगे और खटके। पर एक तो form और content को पृथक्-पृथक् देखने का युग समाप्त हो गया। हमने अन्तिम निर्णय ले लिया है कि उसी समय हम आलोचक के रूप में बोलते हैं जब achieved content की बात करते हैं। form और content को अलग-अलग कर देखने से हम कुछ बातें कर सकते हैं और वे बातें महत्वपूर्ण भी हो सकती हैं पर हम ज्यादा से ज्यादा विश्लेपक का पद प्राप्त कर सकते हैं, आलोचक का नही। टेकनीक को अन्तरंग तत्व कहने का दूसरा कारण यह है कि यही एक विभाजक रेखा है जो कविता को, कला को अन्य समानधर्मा कर्म से पृथक् करती है।

अब हमारा कवि सृजन के लिए तत्पर है। उसको दो महत्वपूर्ण वस्तुएँ हाथ लग गई हैं। उसको मूड आ गया है, जिसका वह कथानक, विपय-वस्तु के रूप मे व्यक्तीकरण करेगा। साथ ही उसे टेकनिकल फार्म, innate form of mind की आरोह, समानता, विभिन्नता की याद है जिसकी स्थापना

वह विषयवस्तु (subject matter) की व्यवस्था मे करेगा। इन दोनों साधनों से सुसज्जित होकर कवि अब आत्माभिव्यक्ति के बिन्दु पर खड़ा है। अब वह आत्माभिव्यक्ति करने ही वाला है, उसके सृजन कर्म की पूर्ति होने वाली है।

परन्तु आत्माभिव्यक्ति क्या है ? पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे एक सम्प्रदाय है जिसे expressionism कहते हैं। अब तो उतना नहीं, पर दो दशक पहले इसका यूरोप मे बड़ा जोर था। इनका कहना था कि सृजक या कवि का उत्तरदायित्व केवल उसकी अभिव्यक्ति के प्रति है। यदि उसको सतोष है कि उसने आत्माभिव्यक्ति ठीक से कर दी है तो उसे वही ठहर जाना चाहिये। उसे इसकी परवाह नही होनी चाहिये कि उसका प्रभाव पाठक पर पड़ता है या नही यह बात दूसरी है, अवांतरप्रसग है, यह कविता का अनिवार्य अंग नही है। आजकल की कविता कुछ obscure होती है, इसलिये कविता में obscurity cult ही चल निकला है। पर यह भ्रामक धारणा है, expression के दायरे को सकुचित कर देना है। आत्माभिव्यक्ति मे प्रभावान्विति भी सम्मिलित है। अनिवार्यरूपेण जहां प्रभाव नही है वहाँ अभिव्यक्ति भी नहीं है। विशुद्ध प्रभावहीन अभिव्यक्ति, अभिव्यक्त्यंश तो हो सकती है पर पूर्ण अभिव्यक्ति नही। If it is a form ot self-expression to show our emotion, to utter our emotion, it is just as truly a form of self-expression to provoke in others. भोजपुरी में एक कहावत है कि आदमी करता नही कहता जाता है। मनुष्य वह नही है जैसा वह करता है, वैसा है जैसा लोगों को प्रभावित करता है, जैसा उसे लोग समझते हैं। Handsome is he who handsome does इस लोकोक्ति में सत्य अवश्य है पर does मे appears भी लगा है इसका अर्थ है Handsome is he who handsome does and appears as well एक व्यक्तिगत उदाहरण के लिये क्षमा माँगू। आप जानते हैं, मैं बधिर व्यक्ति हूं, सुन नहीं सकता। सुना जरूर सकता हूं। अर्थात् मैं दूसरों को प्रभावित तो कर सकता हूँ पर दूसरों को मुझे प्रभावित करने में कठिनाई होती है। अतः, यदि आप यह समझते हो कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे आप श्रुति-सम्पन्न होने के कारण अधिक सौभाग्यवान हैं तो यह आपकी भूल है। नही, इस दृष्टि से मेरा ही सौभाग्य अधिक धनी है। एक बार डा० देवराज से मुलाकात हुई। बड़ी दर्दभरी आवाज में कहने लगे, "उपाध्यायजी, आप से मिलकर हम ही घटो में रहे। आप तो अपने को Express कर ही लेते हैं। हम ही Express नही कर पाते।" मेरा भ्रम टूटा क्योंकि मैं कह रहा था कि क्या कहूं देवराज जो बधिरता के कारण मेरी Personality

ही shut in हो गई है। अपने को पूर्ण रूप से express नही कर पाता । दोनो देवराज ठीक ही कह रहे थे और दोनो ही गलत थे । मै self-expression की बात कर रहा था, और वे उस काव्याभिव्यक्ति की, जिसमे प्रभाव भी सम्मिलित है। और मैं अपनी बात कहूं, क्योकि यदि काव्य-प्रक्रिया मे भाव तथा प्रभाव समन्वित दोनो घटनावयव है तो दोनो का अनुपात बराबर नही है पचास-पचास नही है, तीस-सत्तर का है। यह सब सृजको का अनुभव है। उन्हें सदा इस बात की शिकायत रही कि हायरे ! जो कुछ कहना था वह कह नही पाया। 'शेखर—एक जीवनी' में एक जगह कहा गया है कि साहित्य का निर्माण, मानो जीवित मृत्यु का आह्वान है। साहित्यकार को निर्माण करके और लाभ तो क्या रचयिता होने का सुख भी नही मिलता, क्योकि काम पूरा होते ही वह देखता है, 'अरे यह तो वह नही है जो बनाना चाहता था।" Mark Twain के बारे में कहा जाता था कि वे इस बात को तो गवारा कर सकते थे कि यदि उनके भावों में कुछ ऐसी विचित्रता हो, वैषम्य हो कि पाठको मे तदनुरूप भाव न उत्पन्न कर सके तो मूल भावो के रूप में ही थोड़ा परिवर्तन कर दिया जाय, पर यह बात उनके लिये सह्य नही थी कि उनकी प्रभाव-शक्ति में किसी तरह की कमी आ सके। Mark Twain, before setting pen to paper, again to again transformed the bitter most that he wanted to utter in to the humour that he could evoke." संस्कृत में भी एक इसी तरह की उक्ति है—अपि मासं मसं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्। मास को मस किया जा सकता है, क्योकि इससे छंदोभग से बचा जा सकता है। पूछा जा सकता है कि इस छन्दासक्ति का क्या कारण है ? कारण यही है—छंदोभंग से प्रभविष्णुता में कमी आ सकती है। अतः हमने पाया कि यह जो हमारा कवि है उसमें दो बातें हैं—(१) उसके पास कुछ कथ्य भी है और वह श्रोताओ को प्रभावित भी करना चाहता है। अत: टेकनीक का भी वह साथ छोड़ नही सकता। एक बार जहाँ टेकनीक का साथ हुआ कि धीरे-धीरे वह प्रधानता धारण करने लगती है और एक समय वह भी आता है कि वह कथ्य को धकिया कर सर्वेसर्वा बन जाती है। कवि कथ्य को छोड़कर टेकनीक से क्यो आसक्ति दिखलाता है ? यह प्रश्न आज इसलिये और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है कि आधुनिक कवियों, कलाकारों में टेकनीक की ही प्रधानता हो रही है। लोग शेखर की भले ही निन्दा करें, आधुनिक कविता के बेढगेपन को भले ही कोसें पर सभी यह स्वीकार करते हैं कि हाँ, इसमें एक नया टेकनीक अवश्य है। अतः, यह साहित्यिक आन्दोलन है। प्रगतिवादियों ने किसी नये

टेकनीक का प्रयोग नही किया, काव्य-भाषा को किसी तरह का वैशिष्ट्य प्रदान नही किया। यह भी एक symptom है कि उनका आन्दोलन साहित्यिक नहीं था। प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन भाव-क्रान्ति का आन्दोलन नही होता, भाषा-क्रान्ति का आन्दोलन होता है। घिसी-पिटी शैलियों का परित्याग किया जाता है, नई शैलियों का आविष्कार होता है, मरे हुए शब्दों में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, पहले के साहित्य शास्त्री भी यह बात समझते थे और कहते भी थे—

> प्रौढि-प्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम्।
> अत्युन्नतिस्फोटितकंचुकानि वंद्यानि कान्ता-कुच-मंडलानि ।।

कवि अपने कर्म के स्वरूप को ठीक पहचानता है। वह जानता है कि उसे दो स्तरो पर कार्य करना पड़ता है। स्वस्तर पर तथा पर-स्तर पर। स्व-स्तर पर उसके भाव हैं पर-स्तर पर पाठक है। उसे अपनी बात को पाठक के हृदय-खण्ड से संलग्न करना है। यदि बात ऐसी है जो लोगों को प्रिय हैं, उसमें बाहरी कलात्मकता की कोई परवाह नही करता। यदि कथ्य ऐसा है जिसके साथ पाठक की सहानुभूति नही है तो टेकनीक के कारण ही वह उसमे रुचि लेना आरम्भ करेगा और जहाँ पाठक ने रुचि लेना प्रारम्भ किया तब यह भी आशा हो सकती है कि कथ्य के प्रति जो उसका काठिन्य है वह भी गलने लग सकता है।

पहले ज्ञान और विज्ञान के विकास की प्रगति में इतनी त्वरा नही थी। यदि कोई विचारधारा अस्तित्व मे आती थी तो वह एक लम्बी अवधि तक जनमानस की भावसत्ता पर अधिकार जमाये रहती थी। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल ये सब काल कुछ सौ वर्षो तक चलते रहे। पर भारतेन्दु युग से अब तक न जाने एक दर्जन युग बने और बिगडे। यही कारण है कि कवि या कलाकार इधर दूसरे स्तर पर अर्थात् टेकनीक के स्तर पर ही अधिक सक्रिय देख पड़ते हैं। यों तो कवि सदा ही टेकनीक के स्तर पर काम करता ही है पर इस घुड़दौड़ में उसे बाध्य होकर इस स्तर पर उलझना पड़ता है। क्योंकि वही एक सूत्र है, जिसके सहारे वह लहरो के ऊपर अपना सर उठाये रख सकता है।

जो हो, एक बात तो निश्चित है कि ज्ञान और विज्ञान के इस प्रगति-शील युग मे कवि न तो इनके प्रति अपनी आंखें ही मूंद सकता है और न उसे

ऐसा करना ही चाहिये। उसे इसके साथ किस तरह का संबंध रखना चाहिये, इनके प्रति किस तरह का दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, यह प्रश्न विचारणीय है। उसका उत्तर भी देना चाह रहा हूं। पर भाषा कुछ ऐसा जवाब दे जाती है कि ठीक तरह कह नही पाता। संक्षेप मे यही समझिये कि कवि को विश्व के साथ वैसा ही सम्बन्ध रखना चाहिये, या वैसा ही दृष्टिकोण अपनाना चाहिये जैसे आदिम मानव करता था। वह क्या करता था ?

The fundamental difference between the attitude of the modern & the ancient man as regards the surrounding world is primarily 'it,' for ancient and also for primitive-man it is thou. बस इस It (इदं) तथा Thou (त्व) मे जो अन्तर है वही अन्तर आदिम मनुष्य तथा आज के वैज्ञानिक मानव के विश्व-सबधी दृष्टिकोण में है। यदि हम किसी को Thou (त्वं) कहते हैं तो उसमे हमारी आत्मीयता रहती है, हम उसको पूरे व्यक्तित्व से अपनाते हैं, केवल व्यक्तित्व के एक अंश जैसे बुद्धि से ही नही परन्तु बुद्धि, भाव, कल्पना और जो कुछ भी हो, उस सबसे अपनाते हैं, T. S. Eliot ने एक शब्द प्रचलित कर दिया है—Dissociation of Personality व्यक्तित्व का विभाजन। यह विभाजन उस समय हुआ ही नही था। यह तो अब की बात है। यही कारण था कि उस जमाने में सभी कवि थे, actual नही तो Potential ही सही पर कवि जरूर थे। साधारण बात नही करते थे। दन्तकथाओं myths की रचना करते थे। जब मनुष्य को जन्मना कवि कहा गया होगा तो मूल मे शायद ऐसी ही धारणा रही होगी, जिसकी चर्चा यहां पर की जा सकती है।

आधुनिक युग में जब इटालियन दार्शनिक या साहित्य-मर्मज्ञ क्रोचे ने प्रातिभ-ज्ञान को प्रथम मानस-व्यापार माना तब उसने यही कहा कि प्रत्येक मनुष्य कलाकार है या कवि हैं। लैटिन भाषा मे एक कहावत है—POETA NASCITUR NONFIT कवि पैदा होते हैं, गढे नही जाते। क्रोचे ने इसे परिवर्तित कर इस रूप मे परिणत कर दिया MOMO NASCITUR POETA मनुष्य जन्मना कवि होता है। वह पैदा होता ही है कवि। कोई बड़ा हो या छोटा, पर यह तो केवल मात्रा का ही अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नही। पर जब क्रोचे ने मनुष्य शब्द का प्रयोग किया था तो अनेक रूपों मे विभक्त (अन्तश्शाक्ताः वहिश्शैवाः, सभामध्ये तु वैष्णवाः। नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले, आज के मानव की बात नहीं कही थी। उसने पूर्ण, अविभक्त wholeman

की बात की थी जिसका कुछ रूप आदिम मानव में सुरक्षित था और जिसका कुछ रूप आज छोटे बालक में भी देखा जा सकता है, अपने सीमित दायरे में।

आज हम देखते है कि आकाश में बादल छा गये और वर्षा हो रही है। हम विज्ञान के सहारे कहेंगे कि वातावरण में कुछ दबाव हो गया जिसके कारण बादल छा गये और पानी बरसने लगा। परन्तु प्राचीन बैबिलोनियन ऐसा नही कहेगा। हमने भी उसी घटना को देखा जिसे बैबिलोनियन ने देखा था। घटना में कोई अन्तर नही है। परन्तु अनुभूति के प्रकार मे अन्तर है। हम दूसरे ढग से अनुभव करते हैं और वे दूसरे ढग से। वह इसी घटना को इस रूप में अनुभव करेगा कि IMDUGUD नामक एक बृहदाकार गिद्ध ने विश्व के उद्धार करने के भाव से प्रेरित होकर उसे अपने बादलरूपी पखो से ढक लिया और जिसे Bull of Heaven आकाश-वृषभ ने अपने बीभत्स और उष्ण फुफकारों से विश्व के प्राणो को उत्तप्त कर रखा था और अन्न के दानो को भूंज दिया था, उसका वध कर दिया।

आदिम मानव जब Myths की भाषा मे बोलता था तो वह दो काम नही करता था। वह केवल मनोरंजन ही नही करता था और न तटस्थ होकर प्राकृतिक घटनाओं की बौद्धिक, वैज्ञानिक व्याख्या करता था। वह अपने पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उन घटनाओं के साथ सम्बद्ध था। अतः, वैयक्तीकरण के सिवा उसके पास कोई चारा नही था। मैंने सृजक की तुलना आदिम मानव की चित्तावस्था से की है। अर्थात् वह दन्तकथा कवित्वावस्था है। इस अवस्था का स्वरूप क्या है? स्पष्ट है यह वह अवस्था नही है, जिसमे मनुष्य को प्रकृति से पृथक् सत्ता का ज्ञान ही नही रहता। एक अवस्था वह अवश्य ही रही होगी जिसमे एक ही तत्व परिव्याप्त होगा। खण्ड का ज्ञान ही नही होगा। यह एक अवस्था है। आज के बौद्धिक युग की यह अवस्था है कि पृथक्त्व या खण्डत्व का ज्ञान ही प्रबल हो गया है। अणु-परमाणु तक आज खण्डित हो गया है प्रकृति अलग और हम अलग। आज तक तो हम यही समझते थे कि whole is greater than part, लंगूर लंगूर की पूंछ से बड़ा होना है। पर आज यह प्रमाणित करने की तैयारी हो रही है कि Part (खंड) whole (पूर्ण) से बड़ा भी हो सकता है, बराबर होने की बात ही क्या? यह खण्ड के महत्व की पराकाष्ठा है। कवि सृजक, जिसे हमने यहां आदिम मानव के तोल पर रखा है, इन दोनो बिन्दुओं के मध्य मे रहता है। वह विश्व से एकात्म भी होना चाहता है और अलग भी रहना चाहता है।

भौंरा मधु के भाण्ड के पास तो रहना चाहता है, एकदम समीप, पर वह उसमें डूबना नहीं चाहता। भौंरा वास्तविक सृजक है, सृजन-प्रक्रिया जानता है। कवि भी जानता है कि 'अपने पर मधु में लिपटाकर कर सकता है मधुप न गुंजन।' जब भौंरा कमल में बंद हो जाता है तो, न तो वह मधु-संचय ही कर सकता है और न गुंजन ही। हमारे भक्त कवि भी मुक्ति के प्रेमी नहीं रहे, मोक्ष की कल्पना नहीं की। सामीप्य तो उन्होंने मांगा पर सायुज्य नहीं। यही कारण था कि वे श्रेष्ठकोटि के साहित्य का सृजन कर सके जिसके लिये हम आज भी तरसते हैं।

सृजन-प्रक्रिया पर विचार करते हुए मेरा ध्यान सृजनकारों की कुछ विचित्र आदतों पर भी जाता है। प्रश्न यह है कि क्या कुछ ऐसे बाहरी साधन हैं जिनके द्वारा सृजनात्मक प्रतिभा जागृत की जा सकती है? कुछ लोग जड़ी बूटी, सेवन करते हैं। कालरिज, डी क्विन्सी का अफीम प्रेम प्रसिद्ध है। मंत्र-तंत्र की भी बात सुनी जाती है, स्थान और काल का भी प्रभाव माना जाता है। शीलर अपने डेस्क में सड़े सेब रखते थे, ठीक अपनी नाक के नीचे ताकि उसकी गंध ले सकें। वाल्टर डिलामैर लिखने के समय खूब सिगरेट फूंकते थे, ऑडिन चाय पीते थे। Stephen Spender ने लिखा है Coffee is my own addiction besides smoking a great deal which I hardly ever do except when I am writing. बैलजक लिखते समय संतों की तरह लिबास पहन लेते थे। प्रुस्ट और मार्कटेन सोचते भी थे horizontally और लिखते भी लेटकर। कुछ लोग शांत वातावरण में लिखते हैं और कुछ लोग काफे में बैठकर गुल-गपाड़े में बैठकर। मिल्टन का विश्वास था उनकी प्रतिभा vernal equinox के बीच में ही जागृत होती है इत्यादि। यह भी विचार करने की बात हो सकती है कि साधनों का भी रचना पर असर पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि कोई ड्राफ्ट तैयार करे फिर उसे सुधार कर तैयार करे। और कोई सीधे Type writer पर ही लिखे तो इसका उसकी शैली पर कुछ असर पड़ेगा क्या? जैनेन्द्रजी प्रायः डिक्टेशन देते हैं तो क्या इसका भी उनकी शैली पर असर है। यदि वे स्वयं लिखें या लिखाते है तो क्या इसका भी उनकी शैली पर असर पड़ता है। यदि वे स्वयं लिखें या लिखायें तो उनकी शैली भिन्न प्रकार की होगी या होती है? एक यह भी कल्पना होती है कि यदि मैं सुनता होता तो क्या मेरी शैली दूसरी तरह की होती? इस दृष्टि से मैंने अपना विश्लेषण किया है और परिणाम पर पहुंचा हूँ पर फिलहाल उसकी चर्चा का अवसर नहीं है।

विचारणीय प्रश्न यह हो जाता है कि ऊपर जिन व्यर्थ, अटपटी, विचित्र सनकों की बातें कही गई है उनका सृजन-प्रक्रिया में क्या अनुदान है, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है ? लोगों ने इसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया है ? दो व्याख्यायें प्रसिद्ध है—(१) सृजन के लिए तल्लीनता आवश्यक है। पर कठिनाई तो यह है कि वातावरण में अनेक विघ्न-बाधायें हैं जिनसे यह तल्लीनता भंग होती रहती है। शरीर में ही कुछ ऐसी प्राकृतिक प्रक्रियाएं हैं जो इस मानसिक तल्लीनता को भंग करती रहती है। यदि इन सारे भंगकारी विरोधी तत्त्वों को हटाकर मन को एक तीव्र विन्दु पर केन्द्रित किया जा सके—जैसे सड़े सेव की गंध पर, तो इनकी शक्ति को क्षीण किया जा सकता है। (२) दूसरी व्याख्या यह है कि सृजन एक ऐसी आध्यात्मिक क्रिया है जो अपने आवेग में हमारे भौतिक शरीर के अस्तित्व को भी नष्ट करने, भुला देने पर तुल जाती है। ऐसी तल्लीनता का ऐतिहासिक record है जबकि मनुष्य बाहरी वातावरण क्या, अपने शरीर की सुधि भी खो देता है। परिणाम यह होता है कि जीवन के लिए शरीर और मस्तिष्क मे जिस संतुलन की आवश्यकता है वह नष्ट हो जाता है और जीवन में विशृंखलता आ जाती है। इसलिये किसी वाह्य चीज से संपर्क बनाये रखने की नैसर्गिक मांग मनुष्य में होती है, जो इन बातों के द्वारा सम्पन्न होती है।

सृजन के सिलसिले मे एक और प्रश्न पर भी लोगों ने विचार किया है। कुछ 'मनोवैज्ञानिकों का विशेषत: Individual Psychology के प्रणेता Adler का मत है कि जब मनुष्य में किसी तरह का अभाव रहता है तो वह मन ही मन हीनता-ग्रन्थि की पीड़ा से व्यथित होता है, वह येनकेन प्रकारेण उसकी पूर्ति करना चाहता है। अतः, सृजन की ओर संलग्न होने की उसमे अदम्य प्रेरणा जगती है ताकि वह सबके समकक्ष आ जाय। मै प्राचीन साहित्य से उदाहरण न लूगा, लूगा इधर के इतिहास से। Pope hunch back और dwarf थे, Byron club footed थे, Keats नाटे थे, Proust दमे के शिकार थे, Milton अन्धे थे, Meridith बहरे थे, जायसी एकाक्ष थे, सूर अन्धे थे, इत्यादि। पता नहीं कि इन अभावो का क्या असर पडता है ? आज बहुत मे सृजक साहित्यिक वर्तमान हैं। यदि वे साहस के साथ अपने को खोलें और आलोचक के साथ हार्दिक सहयोग दें तो सृजन के बहुत से रहस्यों पर प्रकाश पड़ सकता है।

एक बात और रह जाती है जो मैं मनोवैज्ञानिको की गवाही पर ही कह रहा हूँ और वह मुझे कुछ विश्वसनीय भी मालूम पड़ती है। आपने एक

शब्द सुना होगा Sublimation (उदात्तीकरण)। सृजन मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण है। उदात्तीकरण के पारिभाषिक अर्थों की जटिलता मे जाने की आवश्यकता नही है। हमारे अन्दर कुछ अदम्य मूल प्रवृत्तियां होती हैं जो बाहर अपने स्वरूप को प्रकट करना चाहती हैं पर उनका प्रकटीकरण समाज के द्वारा अनुमोदित नही है। अतः, वे छद्मरूप मे आती हैं या आ सकती है। मतलब यह कि जब हम अपनी energy को socially unacceptable goal से हटा कर acceptable goal की ओर प्रेरित करते हैं तो कहा जा सकता है कि यह sublimation की क्रिया हुई। बालक पिता से नाराज है, उसकी हत्या करना चाहता है पर कर नही सकता, अतः वह सृजक बन जाता है। वास्तव में देखा जाय तो सृजक में ध्वंस और निर्माण दोनो क्रियायें साथ चलती हैं, वह एक ओर ध्वस करता है तो दूसरी ओर निर्माण भी करता है। एक कवि ने पूछा था कि जो डुवा तो ले मगर कर दे पार वह हाला कहां हैं ? मैं कहूंगा कि वह सृजक के पास जाय। वह डुबाता है और पार भी कर देता है। सृजक प्रकृति की दो चीजों को कभी भी बिना काटछांट किये नही लेता पर कभी भी हत्या नही करता। पर सृजक को एक काम और भी करना पड़ता है। उसे अपनी energy समाजविरोधी लक्ष्य से स्थानान्तरित कर समाजानुमोदित लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के अलावा एक काम और करना पड़ता है—वह है अपनी energy को neutralise करना। यदि वह यह नहीं कर पाता तो सृजन में असमर्थ रहता है। मैं कवियो को, विशेषतः आधुनिक कवियों को अपनी पूरी शक्ति और अनुभव के आधार पर सलाह दूंगा कि वे इस neutralisation का ध्यान रखें। वे goal transformation तो कर लेते है पर energy transformation कभी कभी नही, कि ये दोनो क्रियायें साथ सम्पन्न हो। दोनो मे यौगपद्य की अनिवार्यता नही। उदाहरणार्थ कला का सृजन भी उतनी उद्दामता से किया जा सकता है कि उसमे मौलिक त्वरा बनी ही रहे। जैसे, इस रचना मे—

हरदम यह होता है
देह झकझोर कर
पुरुष निकल जाता है तीर सा
थर्राकर
रह जाती है डोरी बेचारी
नारी (संक्रान्त पृ० ७६)

यहा पर इस सिद्धांत पर बल दिया गया है कि ज्ञान और विज्ञान की जो आज प्रगति हो रही है उससे अपने को असम्पृक्त रखना न तो संभव ही है और न वांछनीय। सृजक को मोत्साह ज्ञान और विज्ञान के प्रगतिशील चरणो का स्वागत करना चाहिए। कहा है—

अज्ञातपांडित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मंत्रान् हालाहलास्वादनमारभंते।।

अतः, अज्ञातज्ञान-विज्ञानमुद्रा कवि काव्य-मार्ग मे अभिमान धारण नहीं कर सकता। बात इतनी सी है कि उसे इन ज्ञानसंभारो के प्रति आदिम मनोवृत्ति से ही प्रतिक्रिया तत्पर होना चाहिये। यही मनोवृत्ति ही कवित्व की मनोवृत्ति है, उसकी जननी है। यहां पर अंग्रेजी साहित्यशास्त्रियो के विचारो का उल्लेख करना तो आवश्यक नही था पर उसके बिना काम नही चलता कारण कि विदेशी विद्वानो के मतो का उद्धरण देने से प्रतिपाद्य वस्तु के महत्व की स्थापना में सुविधा हो जाती है। पाठकों को यह बात देख कर आश्चर्ययुक्त प्रसादन होता है कि जिस बात के लिये लेखक हमे तैयार कर रहा है उसे देश के ही नही विदेश के मनीषियो का भी समर्थन प्राप्त है।

T. S. Eliot ने अपने प्रसिद्ध लेख Tradition and Individual Talent मे इस प्रश्न पर कुछ विचारोत्तेजक बातें कही हैं। उन्होंने कहा है He (poet) must be quite aware of the obvious fact that art will never improve but the material of art is never quite the same..."कवि को यह सीधी सी बात नही भूलनी चाहिये कि कला मे तो कोई उन्नति नहीं होती (वह तो ज्यो की त्यों है) पर कला के उपकरण कभी भी एक से नही रहते (वे सदा बदलते रहते हैं।)" कवि के लिये—ज्ञान-विज्ञान परम्परा की उपयोगिता पर बल देते हुए वे कहते हैं Shakespeare acquired more essential history from Plutarch than most men could from the whole British Museum. What is to be insisted upon is that the poet must develop or procure the consciousness of the part and that he should continue to develop this consciousness through out his carreer शेक्सपियर ने केवल प्लुटार्क के अध्ययन मात्र से उतना ऐतिहासिक आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया, जितना कि अधिकांश व्यक्ति पूरे ब्रिटिश म्यूजियम को पढ़ कर भी नहीं कर सकते थे। ध्यान देने की बात इतनी ही है कि कवि को अतीत की चेतना प्राप्त करने तथा उसके विकसित करने की चेष्टा सदा करते रहना चाहिये। इस पर यह प्रश्न उठाया जा

सकता है कि यह जो आज के युग में आदिम मनोवृत्ति अपनाने की बात कही जा रही है वह संभव भी है ? सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में मनुष्य ने जो इतनी प्रगति की है उसे लांघ कर पुनः आदिम युग में पहुंच जाना किस तरह संभव है ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जग बदलेगा किन्तु न जीवन। सभ्यता ने बहुत से परिवर्तन उपस्थित कर दिये है, प्राचीन से सर्वथा भिन्न। पर ये परिवर्तन मात्र बाहरी आवरण मे हैं। मानव का मौलिक रूप ज्यों का त्यों है। कालिदास के मेघदूत के यक्ष की बात सब को याद होगी। यक्ष आदिम मानव नही था, सभ्य था, सभ्य ही नही अतिसभ्य था, कृत्रिमता की सीमा तक पहुंचने वाला। यक्ष की निवास-भूमि अलकापुरी का जो वर्णन कालिदास ने किया है कि वहां लोगों के नयन-सलिल आनन्दोत्थ ही होते हैं, यदि कोई ताप था तो कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्य ही होता था, प्रणय-कलह के सिवा और कोई वियोग नही था, यदि कोई अवस्था थी तो जवानी हो, निश्चय ही यह आदिम युग का सूचक नही है। पर इस सभ्य यक्ष ने भी जब रामगिर्याश्रम मे मेघों को उमड़ते हुए देखा तो अन्यथावृत्तिचेतः हो गया कहिये, आदिम मनोवृत्यापन्न हो गया। वह मेघ के द्वारा ही अपनी प्रिया के पास संदेश भेजने के लिये तत्पर हो गया। कारण कालिदास ने बतलाया है—

> धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः,
> संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीया. ॥
> इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे ।
> कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

यहा पर कालिदास ने कामार्त को चेतनाचेतन-विवेक मे प्रकृति-कृपण कहा है और मैने सृजक को आदिम मनोवृत्यापन्न कहा है। यदि आप मेरी बात न मानें और कालिदास की प्रकृतिकृपणाः चेतनाचेतनेषु वाली बात से ही आपको संतोष हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

२

आलोचना के सम्यक्प्रश्नोत्तर

आलोचना का क्षेत्र अपनी अराजकता के लिये बदनाम है। एक ही पुस्तक पर आलोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार कर भिन्न-भिन्न परिणाम निकाले हैं और यह कोई आवश्यक नहीं कि इन परिणामों मे कोई मौलिक एकता हो ही। अतः, सच्ची आलोचना क्या है और कौन सच्चा आलोचक है इसका निर्णय आज तक नहीं हो सका और कभी भी निर्णय होगा इसका भरोसा नहीं है। परन्तु एक बात तो निश्चित ही है कि आलोचना का प्रश्न इसलिये भी उलझ गया है कि आलोचकगण आलोच्येतर वस्तु पर आवश्यकता से अधिक निर्भर करने लगे हैं। उदाहरणार्थ, कोई कविता या पुस्तक सामने पढने को मिली। हमें इसका मूल्यांकन करना है, इसके मर्म को पहचानना है और अन्य पाठकों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित करना है। बस हम उसे तत्कालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित कर न जाने कितनी ही आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिस्थितियों की बातें करने लगेंगे और इन बातों की धूमधाम में आलोच्य वस्तु का स्वरूप ही ओझल हो जायेगा, वह हमारी पकड़ से बाहर हो जायेगी। अर्थात् जिस आलोच्य वस्तु की बातें करनी है उसके सिवा आलोचक संसार के सब विषयों पर बातें करेंगे और वे बातें अपने मे महत्त्वपूर्ण भी हो सकती हैं। आज हिंदी मे अधिकांश आलोचनात्मक पुस्तकों मे यही दृश्य देखने को मिलता है। वास्तव मे हिन्दी मे यह परम्परा शुक्ल जी के समय से प्रारम्भ हुई जो आज भी अपने विकसित रूप मे चल रही है। शोध-ग्रन्थों में तो इस तरह की आलोचना का, जिसमे अवान्तर तथा असंगत बातों की भरमार रहती है, बड़ा ही भयंकर और वीभत्स रूप सामने आ रहा है। यदि यह प्रक्रिया जारी रही तो, यह निश्चय है, कि इसके प्रति विद्रोह होगा और आलोचना सब ओर से सिमट कर आलोच्य वस्तु पर केन्द्रित होने मे ही अपनी सार्थकता की सिद्धि समझेगी।

आलोचना का क्या अर्थ है? किसी कृति की भाषा को समझना। भाषा शब्द का प्रयोग यहां पर व्यापक अर्थ मे किया जा रहा है। भाषा का मतलब कथन, उक्ति तथा उसका अर्थ है। केवल शाब्दिक अर्थ नहीं, वास्तविक अर्थ। हम साधारण दैनिक व्यवहार में अपने साथ मिलनेवालो के कथन का अर्थ किस तरह समझ पाते हैं। मैं रेलगाड़ी से यात्रा कर रहा हूं। मेरे नातिपरिचित राह के साथी ने कोई बात कही। मुझे वह बात समझ मे नहीं आई। सम्भव है वह किसी पारिवारिक कष्ट मे हो, किसी व्यक्तिगत समस्या मे उलझा हो अथवा आज के समाचारपत्रों में प्रकाशित किसी समाचार के संदर्भ मे बातें कर रहा हो जिसे मैं पढ नहीं सका होऊं। इसी तरह के अनेक कारणों से उसकी भाषा अर्थात् कथन बोधगम्य नहीं होता हो। तब हम उससे पुन: प्रश्न करेंगे, उसका स्पष्टीकरण मांगेंगे और तब उसके कथन को ठीक से हृदयगम कर सकेंगे। यहां पर हमारी कठिनाई किस तरह दूर हुई? प्रश्न के द्वारा। वक्ता सामने है, मैंने प्रश्न किया, उत्तर पाया, समस्या दूर हुई। वक्ता के सामने रहने से कुछ सुविधा अवश्य है। जब चाहे हम उससे प्रश्न पूछ सकते और समाधान पा सकते हैं। कवि समकालीन हो और जीवित हो तो भी उससे शंका-समाधान की सुविधा हो सकती है। हालांकि सृजन के बाद कवि भी साधारण पाठक की स्थिति में ही आ जाता है। पर यदि हमें किसी प्राचीन दिवगत कवि की मानसिक अभिव्यक्ति अर्थात् कविता के मर्म को समझना है जिससे हम साक्षात् प्रश्न नहीं कर सकते तो उसके समझने की प्रक्रिया भी मुख्य रूप से यही है। इसे हम प्रश्नोत्तरशैली कह सकते हैं। हमे ध्यान इतना ही रखना है कि प्रश्न ठीक ढग से किये जायं। प्रश्न वैसे ही हों जो स्वयं आलोच्य कृति से ही उत्पन्न हो, उसी में अन्तर्निहित हो, अवान्तर प्रसगों से उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो।

मतलब यह कि आलोचक को ठीक ढंग से प्रश्न पूछना चाहिये। उसे प्रश्न पूछने की कला में दक्षता प्राप्त करनी चाहिये। यदि ठीक ढग से प्रश्न किया जाय तो ठीक उत्तर स्वयमेव बनेगा। 'ठीक ढग से प्रश्न करना भी आधा उत्तर प्राप्त करना है। इस तरह हम आलोचक की तुलना paper setter से कर सकते है। प्रश्नकर्त्ता परीक्षक अच्छी तरह पाठ्यक्रम मे निर्धारित पुस्तकों का अध्ययन करता है। इस बात का निश्चय करता है कि परीक्षार्थी से विषयसम्बन्धी किस तरह के ज्ञान की अपेक्षा है और तब जाकर वह प्रश्नों का निर्वाचन करता है। परन्तु बहुत से ऐसे असावधान प्रश्नकर्त्ता

भी होते हैं जो पाठ्यक्रम की व्याप्ति का ध्यान रखे बिना ही बाहर के प्रश्न पूछ दिया करते है और इसका जो परिणाम होता है उससे हम सब, आज के युग मे परिचित है। अतः, आलोचक की सामर्थ्य, शक्ति, प्रतिभा की प्रथम कसौटी यह है कि वह सार्थक, सम्बद्ध, सगत तथा अभीष्ट साधक प्रश्न करता है या नही।

प्रसंगवश मुझे अपने प्राध्यापकीय जीवन की एक बात याद आ रही है। जसवत कालेज, जोधपुर अपने समय का एक बहुत ही प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित तथा सुसगठित कालेज था। सौभाग्य से पी० पी० सहानी जैसे योग्य प्रशासक, शिक्षाशास्त्री तथा विद्वान् व्यक्ति उसे प्रिंसिपल के रूप में प्राप्त थे। उन्होने कालेज मे ट्यूटोरियल पद्धति चलाई थी। सप्ताह में एक बार पाच सात छात्रों की कक्षा लगती थी जिसमें लड़कों की कठिनाइयां हल की जाती थी। उनसे प्रश्न पूछे जाते थे और अक दिये जाते थे। यहां तक तो कोई विशेष बात न थी। पर विचित्र बात यह थी कि छात्र भी अपने विषयसम्बन्धी प्रश्न प्राध्यापकों से पूछते थे। वे किस तरह के प्रश्न करते हैं, इस पर अंक दिये जाते थे। प्रिन्सिपल सहानी का तर्क यह था कि जब तक छात्र ने अपने विषय का अध्ययन नही किया है तब तक वह सार्थक (Intelligent) प्रश्न कर ही नही सकता। छात्र किस तरह का प्रश्न करता है यह भी उसकी अध्ययन-शीलता का द्योतक है और पुरस्करणीय है। अतः, उसे अंक मिलने चाहिये। मेरी कल्पना मे आलोचक भी इसी तरह का जिज्ञासु छात्र है जो रचना का सम्यक् अध्ययन कर उससे सार्थक प्रश्न करता हे और जो उत्तर पाता है वही उसकी आलोचना है।

यहां पर एक प्रश्न उठता है कि यहां तक तो कोई आपत्ति नही कि रचना का अध्ययन किया गया, प्रश्न पूछा गया, उत्तर भी प्राप्त किया गया। पर इस बात का निश्चय कौन करे कि यह जो उत्तर मिल रहा है वही सही है या गलत। छात्र के केस मे प्राध्यापक अथवा प्राध्यापक के केस मे छात्र गलत या सही का निर्णय कर सकते हैं। पर यहां पर एक पक्ष का अभाव है। कवि हमारे सामने उपस्थित नही और न उपस्थित हो सकता है। तब इस प्रश्न का निर्णय किस तरह हो ? यह वास्तविक कठिनाई है पर यह अनुल्लंघ्य नही। उत्तर ठीक है या नही इस बात का निर्णय अन्य प्रश्नो के उत्तरों के साथ संगति पर निर्भर करेगा। हम रचना से एक ही प्रश्न करके सतोष नही कर लेते, अनेक प्रश्न करते हैं। यदि हमारे मुख्य प्रश्न के उत्तर के साथ इन

उत्तरों की संगति बैठ जाती है तो ठीक। नही तो हम अपने प्राप्त उत्तर को संदेह की दृष्टि से देखेंगे।

शेक्सपियर के प्रसिद्ध दुःखान्तकी नाटक हैमलेट के आलोचना-साहित्य पर विचार करने से ऊपर प्रश्न-सम्बन्धी कही हुई बात स्पष्ट होगी। यहां दो बातें विचारार्थ उपस्थित होती हैं (१) पुस्तक के सम्बन्ध मे पूछे गये प्रश्न सार्थक हैं या निरर्थक ? (२) इन प्रश्नों का जो उत्तर प्राप्त होता है वह सही है या गलत ?

प्रथम प्रकार के प्रश्न का उदाहरण लीजिये। हम सब जानते हैं कि हैमलेट प्रतिशोध दुःखान्तकी है अर्थात् इसमे हैमलेट द्वारा अपने पिता की हत्या करने वाले क्लाडियस से प्रतिशोध लेने की कथा कही गई है। मृत पिता की आत्मा ने स्वय कहा है कि उसकी मृत्यु स्वाभाविक रूप मे नही हुई है। एक षटयन्त्र रचा गया है जिसमें क्लाडियस ने हैमलेट की मा के साथ मिल कर राज्य-लोलुपता के कारण उसकी हत्या कर दी है। इसी बात को ध्यान में रख कर बहुत से लोगों ने यह जानने का प्रयत्न किया कि एलिजाबेथ युग मे प्रतिशोध-भावना के प्रति लोगो की क्या धारणा थी। वे उसे अच्छा समझते थे या बुरा, नैतिक या अनैतिक ? इस समस्या के प्रति अर्थात् प्रतिशोध लेने के प्रति स्वय शेक्सपियर क्या विचार थे ? अनेक ग्रन्थों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस युग मे अपने निजी आघातों के प्रतिशोध के लिये किसी की हत्या करने को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, इसे भयानक पापकर्म समझा जाता था। इस पक्ष की पुष्टि मे बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनकी सत्यता अकाट्य है। उस समय के धर्म-प्रचारकों तथा नीति के उपदेशको के प्रवचनों से असख्य उद्धरण देकर यह बात प्रमाणित की जा सकती है। पर हम ऐसे व्यक्तियो से दूसरी आशा ही क्या कर सकते है ? यह तो मानी हुई बात है कि धार्मिक व्यक्ति व्यक्तिगत प्रतिशोध को गर्हित बतलायेगा। इसके लिये इतने परिश्रम तथा तूल-तवील की क्या आवश्यकता थी ? ऐसे सस्ते प्रश्न जिनका उत्तर पहले से ही ज्ञात हो और जिनके उत्तर सस्ते ढग से दिये जा सकें नही पूछने चाहिये।

दूसरी ओर Bond of Association (1584) पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति पर ध्यान दीजिये। इतिहास साक्षी है कि जब रानी एलिजाबेथ के विरोधी सगठित होकर उसका विरोध करने लगे और ऐसा प्रयत्न करने लगे कि उसकी हत्या करके मेरी को राज्य-सिंहासन पर

बैठाया जाय ताकि कैथोलिक धर्म का प्रचार हो सके। साथ ही यह प्रबल आशंका होने लगी कि एलिजाबेथ का जीवन खतरे में है तो एलिजाबेथ के समर्थकों ने एक संघ की स्थापना की जिसे Bond of Association कहते हैं। इसकी प्रतिज्ञाओ पर हस्ताक्षर करने वालो मे Burgller जैसे पवित्र विचार वाले धर्म-प्रवरा व्यक्ति भी थे जिन्होने ईश्वर को साक्षी देकर यह प्रतिज्ञा की थी यदि एलिजाबेथ के जीवन पर आक्रमरा किया गया तो खून का बदला खून से लिया जायेगा। केवल मेरी की ही हत्या नही की जायेगी, परन्तु उसके सारे सम्बन्धी तथा राज्य पर दावा करने वाले सब व्यक्तियो को जड़ से खोद कर उखाड़ फेका जायेगा।

दूसरा प्रश्न यह पूछा जाता है कि उस समय के लोगो मे भूतो प्रेतो के सम्बन्ध मे क्या धारणा थी। लोग उनके अस्तित्व मे विश्वास करते थे या नही। प्र० डोवर विलसन इस विषय के अध्ययन के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि भूतो तथा प्रेतो के अस्तित्व के बारे में कोई निश्चयात्मकता नही थी। कुछ लोग विश्वास करते भी थे, कुछ लोग नही भी करते थे। इस ज्ञान के उपरान्त हमे हैमलेट को समझने में थोड़ी सहायता मिलती है कि वह अपने पिता की हत्या करने वाले चाचा की हत्या करने में विलम्ब क्यो कर रहा था। वह अपने प्रति ईमानदार था, उसमें बौद्धिक विवेक तथा नैतिक सवेदन के भाव कम न थे। उसी तरह T.S Eliot ने अपने नाटक Cocktail Party में Reilly नामक पात्र का चित्रण किया है जो मानसिक चिकित्सक है। मानस चिकित्सको की उपयोगिता के सम्बन्ध में आज हमारे भाव अस्पष्ट है। हमे निश्चित नही है कि इनकी चिकित्सापद्धति से लाभ होता ही है। इसी अस्पष्ट स्थिति का लाभ इलियट ने उठाया है और अपने नाटक में हास्य का थोड़ा पुट देने के लिये इसका उपयोग किया है। आज से १०० वर्षो बाद किसी आलोचक के मन मे इलियट की पुस्तक की आलोचना करते समय, यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि २० वी सदी में मानस चिकित्सकों के संबंध मे लोगों की क्या धारणा थी। और वह कुछ इसी तरह के निर्णय पर पहुचेगा जिस तरह के निर्णय पर हम आज शेक्सपियर के भूतो के संबंध पर पहुँचे हैं अर्थात् कि स्थिति अस्पष्ट थी, द्वैध थी। परन्तु साहित्यिक अध्ययन के लिये इन प्रश्नो का कोई विशेष महत्व नही। शेक्सपियर या इलियट भूतों या मानसिक चिकित्सकों मे विश्वास करते थे या नही, भूत या मानसिक चिकित्सक इन कृतियों के प्रति पाठकों मे एक विशेष रुख अपनाने की मांग करते है या

नही, यह प्रश्न हमारे सामने नहीं है और ऐसा प्रश्न करना भी व्यर्थ है। हमे इतने से ही संतोष कर लेना चाहिये कि शैक्सपियर या इलियट ने इस स्थिति का किस कलात्मकता के साथ उपयोग किया है। ये इस तरह के प्रश्न हैं जिनका उत्तर इतिहास के पास नही। वह इनके उत्तर मे थोड़ी बहुत सहायता भले कर ले। हमने कई बार लोगो को विचारगोष्ठियो मे बड़े उत्साह से 'कामायनी में शैवदर्शन' पर विचार करते हुए सुना है और देखा है कि कितनी पैंतरेवाजी से पक्ष या विपक्ष मे उत्तर दिये जाते हैं। मेरे मन मे यही हुआ है कि 'दुहुँ राह न पाई' न हिन्दुग्रन की हिन्दुग्राई ने, न तुरुकन की तुरुकाई ने। प्रश्न यह नही है कि प्रसाद शैवमत उपासक थे या नही। प्रश्न यह है कि उन्होने उसका कहां तक कलात्मक प्रयोग किया है और उसमे कितनी सफलता पाई है ?

हैमलेट के सम्वन्ध में एक और प्रश्न पूछा जाता है जिसे सर्वप्रथम तो जानसन ने उठाया था। वाद मे ग्रेडले इत्यादि ने भी इसे छेड़ा पर इधर जव से मनोविश्लेपणवाद ने जोर पकडा तो इसका महत्व और भी वढ़ गया। यह प्रश्न हैमलेट के मर्म को पहचानने मे अधिक सहायक भी है। इस पर विस्तार-पूर्वक विचार भी हुआ है। अतः, यहां इस पर विस्तार से विचार करना भी आवश्यक है।

यों तो हैमलेट की कथा प्रसिद्ध ही है परन्तु फिर भी यहां पर पाठकों की सुविधा के लिये उसका संक्षेप मे उल्लेख किया जा रहा है। हैमलेट का पिता डेनमार्क का राजा था। उसकी मृत्यु संदेहजनक अवस्था में हुई। उसकी मृत्यु के उपरान्त अनपेक्षणीय शीघ्रता से हैमलेट की मा का विवाह उसके चाचा Claudius के साथ हो गया और वह राजा वन वैठा। एक दिन निशीथ वेला मे दिवंगत पिता की आत्मा का साक्षात्कार हैमलेट से होता है जो उसे यह वतलाती है कि Claudius तथा Gertenda के सम्मिलित षडयन्त्र के द्वारा उसकी निर्मम हत्या की गई और हैमलेट का कर्तव्य है कि वह खून का वदला खून से ले। हैमलेट प्रतिज्ञा भी करता है पर वह कुछ कर नही पाता। अन्त मे Claudius की मृत्यु होती अवश्य है पर उसमें हैमलेट का कुछ भी हाथ नही। हैमलेट की इस निष्क्रियता का क्या कारण हो सकता है ? वह क्यों अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने में शिथिलता का प्रदर्शन करता है। सर्वप्रथम इस प्रश्न की ओर जानसन का ध्यान गया। पर उन्होंने इस पर नाटक के प्लाट के दृष्टिकोण से विचार किया। उनका कहना था कि नाटक के प्रमुख पात्र को

सक्रिय होना चाहिये और उसकी तत्परता के द्वारा ही कार्य की प्रगति होनी चाहिये तभी नाटक मे चमत्कार आता है। परन्तु यहा तो हैमलेट घटनाओं के हाथ का खिलौना बन जाता है। जैसी बयार बहती है उधर ही पीठ कर देता है। वह Agent नही रह जाता, मात्र instrument रह जाता है। घटनायें घट जाती हैं पर अपने स्वाभाविक ढग से। क्लाडियस की मृत्यु होती है पर उसमे हैमलेट का कोई हाथ नही। इसलिये प्लाट में नाटकीय चमत्कार का अभाव है।

इसी प्रश्न को ब्रेडले ने दूसरे ढंग से छेडा। जानसन की बतलाई हुई त्रुटि को उन्होने प्लाट से हटाकर प्रमुख पात्र हैमलेट की चरित्रगत कमजोरी से सलग्न किया और कहा कि हैमलेट मे ही वीर पुरुषोपयुक्त दृढता नहीं थी। इलियट ने इसी को जरा तारस्वरेण स्पष्ट रूप से कहा कि हैमलेट महा अक्षम पात्र है। उसकी अक्षमता के कारण नाटक में इतनी विडम्बनायें उपस्थित हुईं। लोगो की व्यर्थ हत्यायें हुई और जिस पर भी हैमलेट के हृदय मे जरा भी पश्चात्ताप का भाव नही। जब वह मरता है तब पूरे संतोष के साथ मरता है। जिसके कारण इतनी गड़बडी हुई वह सतोष की सास लेकर प्राणत्याग करे, उसकी प्रतिष्ठा एक कर्तव्यपरायण सैनिक की तरह हो यह बात खटकने वाली है। किसी आलोचक के सामने हैमलेट के अध्ययन के बाद दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। (१) हैमलेट बडा ही प्रतिज्ञादुर्बल है, वह अपने शैथिल्य के लिये अपनी भर्त्सना करता रहता है, परन्तु फिर भी कुछ कर धर नही सकता, नाटक के कार्य को अग्रसर करने मे उसका हाथ नही रहता (२) नाटक की समाप्ति जिस रूप मे होती है उससे ऐसा लगता है कि नाटककार को सन्तोष है कि हैमलेट ने अपना पार्ट ठीक तरह से अदा किया।

प्रश्न यह है इन दोनो परस्पर विरोधी बातो मे क्या संगति है। जीवन-भर हैमलेट अपने चरित्र की दुर्बलता का परिचय देता रहा जिस पर विश्व का सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर उसे (good character) सच्चरित्रता, का प्रमाणपत्र देने को तैयार है। इसके दो explanation हो सकते हैं। एक शेक्सपियर की नाट्यकला मे भयानक त्रुटि है, पात्रो की चारित्रिक सगति यदि नाट्यकला की कसौटी है तो शेक्सपियर यहां बुरी तरह असफल है। पर ऐसा कहने वाला बड़ा साहसी होगा क्योकि हैमलेट की नाटकीय श्रेष्ठता पर आजतक किसी ने अंगुली नही उठाई है। वैसे तो ऐसे कुछ लोग भी मौजूद हैं जो यह कहते हैं कि शेक्सपियर को काव्य का क, ख, ग, भी नही आता था।

मैं उन लोगों की बातें नही कहता। मेरा कथन इतना ही है कि हैमलेट एक श्रेष्ठ कलात्मक नाटक है "नास्त्यत्र संदेहः" (२) दूसरा explanation यह हो सकता है कि आलोचक की आलोचना-पद्धति मे ही कही त्रुटि है और वह सही ढंग से विचार नही कर रहा है। वह नाटक को ठीक फोकस मे लाकर नहीं देख रहा है। ठीक फोकस में न लाने की बात यों समझिये। एक मैदान मे कुछ नवयुवक एक गेंद के पीछे बेतहाशा इधर-उधर दौड़ रहे हैं। इससे बढ कर पागलपन की बात और क्या हो सकती है। पर जरा ठहर जाइये। अपनी दृष्टि के फोकस को ठीक कीजिये। आप देखेंगे कि वहां जिस तरह की व्यवस्था है, अनुशासन है, विवेकशीलता है, वैसी जीवन में दुर्लभ है। फोकस के ठीक होते ही जहां अराजकता थी वहां व्यवस्था का उदय हुआ, कोलाहल के स्थान पर शान्ति नजर आने लगी। इसी तरह यहां अर्थात् हैमलेट की आलोचना करते समय यह देखना है कि कही हम इस नाटक को out of focus तो नही देख रहे हैं। ऊपर से दीख पडने वाली असगति के नीचे कही अपूर्व सगति तो नही छिपी है। यदि हम आलोचक को न्यायाधीश मानें और नाटककार को अपराधी तो संदेह का लाभ तो अपराधी को मिलना ही चाहिये। क्या नाटक मे कोई ऐसी बात है जिसके कारण उसे अपराध से मुक्ति मिल सके।

इसके लिये लोगों ने शैक्सपियर के आसपास के अर्थात् उसके कुछ पूर्व, समकालीन अथवा कुछ ही बाद रचित प्रतिशोध त्रासदियो का अध्ययन किया है और यह देखने की चेष्टा की है कि इन सब नाटको मे कौन-सी चीज है जो सब मे सामान्य रूप से वर्तमान है। यदि ऐसे किसी सामान्य सूत्र का पता चल जाय तो यह कल्पना सत्य के समीप होगी कि उन दिनों इसका बड़ा महत्व था और इस का सन्निवेश रचना की उत्तमता के लिये आवश्यक समझा जाता था। हमें यह कभी भूलना नही चाहिये कि साहित्यिक मूल्याकन या अध्ययन वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं और, यहां पर बिना कल्पना के सहारे एक क्षण भी काम चलना कठिन है। हां, हमे सावधानी इतनी ही रखनी है कि कही कल्पना अनर्गल न हो। यदि वह रचना के किसी छिपे पहलू पर प्रकाश डालती है तो उससे सहायता ले लेना क्या बुरा है? ऐतिहासिक वैज्ञानिक तथ्य तो इतना ही है कि हैमलेट की कथावस्तु, शैक्सपियर की कल्पना की उपज नही है, उत्पाद्य नहीं है, प्रख्यात है अर्थात् पौराणिक है, प्राचीन है। यह कथा शैक्सपियर के बहुत पूर्व से चली आ रही है और लोगों ने इसके आधार पर रचनाये की है। शैक्सपियर को यह कथा पसद आई और उसने समझा कि इसके आधार पर उन्हें अपने भावों को प्रगट करने मे की सुविधा होगी।

हैमलेट के अतिरिक्त तीन और प्रतिशोध त्रासदियाँ (Revenge Tragedies) पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। Spanish Tragedy, Titus Andvonicus, Revenger's Tragedy. इनकी कथाओं से हमारा विशेष मतलब नही। इन सब नाटको का निर्माण इस ढंग से हुआ है जिसमे नायक स्वयं आगे बढ़ कर खतरे का मुंह नही पकड़ता। जिस आपत्ति मे वह पड़ गया है उसका उत्तरदायित्व उस पर नही है, सारी परिस्थितियां खलनायक के द्वारा उपस्थित की गई हैं। नायक के सामने बड़ी दारुण परिस्थितियां तो है पर वह उनका सामना करने के लिये कोई कदम नही उठाता। वह कुछ नही करता। प्रतिनायक के द्वारा भूल हो जाती है। इसी का वह लाभ भर उठाता है। जो कुछ भी घटनायें घटती हैं, समस्या का जिस तरह भी समाधान होता है वह नायक की योजना की सफलता का परिणाम नही। प्रतिनायक की भूल का परिणाम है। खलनायक से भूल हो गई। बस नायक को अवसर मिला जिससे उसने लाभ उठया। ऐसा लगता है कि इसके द्वारा नाटककार पाठको के हृदय की उस अन्तस्थ वृत्ति को सतुष्ट करना चाहता है जो पापियो को दूसरों के लिये रचे हुए जाल मे स्वयं फंसकर नष्ट होते हुए देखने मे आनन्द लेती है। यदि पापी नायक के द्वारा उठाये अस्त्रो से नष्ट होता है तो इसमे भी हृदय को संतोष होता ही है पर जब उसी के अस्त्रो द्वारा उसका नाश हो तो वह सतोष अधिक गंभीरतर होता है। अतः, हम कह सकते हैं कि शैक्सपियर ने यदि हैमलेट को प्रतिशोध कार्य मे अधिक तत्पर नही दिखलाया है तो उस समय की प्रचलित साहित्यिक प्रथा के साथ मानव की अन्तस्थ प्रकृति का भी साथ दिया है।

लेकिन यदि शैक्सपियर इतना ही करके रह जाता तो उसकी महत्ता ही क्या? वह भी अनेक नाटककारो मे से एक होता। उसकी महत्ता इसी मे तो है कि उसने अपनी प्रतिभा से इस प्रसंग मे इतना चमत्कार भर दिया है कि पात्र का चरित्र दीप्त हो गया है। केवल एक बात पर ध्यान दीजिये। अन्य प्रतिशोध त्रासदियो के नायक को ज्योंही अवसर मिलता है वे अपने शत्रु पर इतनी तीव्रता से टूटते हैं मानो कोई खूंखार पशु अपने शिकार पर टूटता है और वहां पर ऐसी क्रूरता एव बीभत्सता का प्रदर्शन करते हैं कि पाठक के हृदय में अपराधी को उचित दण्ड मिलने के संतोष के बदले नायक के नृशसं कर्मों पर क्षोभ और घृणा होने लगती है। कम से कम इतना तो हो ही जाता है कि पाठक के हृदय को धक्का लगता है, उसके सपने टूट जाते हैं। वह नायक को धीर, वीर, संयमी समझे बैठा है। पर अब वह देखता है कि उसकी धारणा

गलत है। जहां जरा सा अवसर मिला कि वह भी गिरकर प्रतिनायक के ही नैतिक स्तर पर आ गया। इतना ही नहीं और भी नीचे गिर गया। शेक्सपियर के सामने प्रश्न यह था कि किस तरह नायक के इस स्तर की रक्षा की जाय।

मैंने अपनी सुविधा के लिये मनुष्य को ,दो श्रेणियों में विभाजित कर लिया है क्रियारत मानव (man-in-action) और चिंतन-परक मानव (manin-Contemplation)और यह मान लिया है कि मानवता द्वितीय श्रेणी के मानव में ही अधिक जागृत रहती है। अनुचिंतन ही वह वस्तु है जो मनुष्य को निम्नतर श्रेणी के जीवों से पृथक् करती है। अत्यधिक क्रिया-तत्पर मानव, वात की वात मे क्रियातत्पर हो जाने वाला मानव वहुत कुछ पशु के आसपास पड़ता है। विल्ली चूहे को देखते ही झपट पड़ती है उसे सोचने-समझने तथा अनुचिंतन करने की चिंता नही रहती। यदि मानव का व्यवहार भी इसी तरह का हो तो उसमें विशेपता ही क्या रह जाती है। जिस पर भी साहित्य के क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले मानव पर अपनी मानवता की रक्षा करने का उत्तरदायित्व और भी वढ जाता है। यह ठीक है कि हैमलेट के सामने वहुत से अवसर आये है जब वह वड़ी आसानी से अपना प्रतिशोध ले सकता था पर उस अवसर से वह लाभ नही उठाता। इसके लिये आलोचकों की निंदा का पात्र भी उसे कम नही वनना पड़ा है पर वास्तव मे देखा जाय तो जिस अवगुण के लिये उसे लाछित किया जाता है वही उसकी विशेपता है। उसका मानसिक आलोडन, असमंजस, अनिश्चय, मीठी-मीठी आच पर पकते रहना ही वे विशेपतायें है जो claudius तथा अन्य क्रियाशील, अवसर पाते ही मंदिर के प्रांगण मे पात्र को छुरा भोंक कर हत्या करने वाले पात्रों से पृथक् करता है। एक अवसर आया है। क्लाडियस असहायावस्था में अकेले एकान्त मे हैमलेट के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना कर रहा है। कैसा अच्छा सुअवसर है? हैमलेट एक मिनट में उसकी हत्या कर प्रतिशोध ले सकता था। पर क्या आप चाहेंगे कि हैमलेट इस असहाय, घुटने टेक कर प्रार्थना करने वाले व्यक्ति की हत्या करे? ऐसा करना उसके वीरोचित नायकत्व के अनुरूप होता? माना कि पात्र पंजे में आ गया था पर वह पकड़ के वाहर था। उस पर हाथ उठाना मानवता की अपनी हत्या होती। हैमलेट अपने पात्र की हत्या अवश्य करेगा पर अपने ढंग से। वह ऐसा हत्यारा नही है जो वहुत दूर की वात सोचता है, वहुत सोच समझ कर गहरा षडयंत्र करता है, पकड़े जाने वाले सव छिद्रों को

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि किसी साहित्यिक कृति से पूछे गये प्रश्न और उससे प्राप्त उत्तर दोनों ही प्रश्नकर्त्ता के व्यक्तित्व तथा युग से प्रभावित रहेंगे ही। आज हम हैमलेट या कुमारसम्भव की आलोचना करेंगे तो ये कृतियां २०वी शताब्दी के रंग मे सरावोर हो जायेंगी और उसी रूप में बोलने भी लगेंगी। परन्तु इससे इन प्रश्नों और उत्तरो का महत्व घट नही जाता। महनीय साहित्यिक कृतियों का महत्व इसमे नही है कि वे प्रश्नों का 'इदमित्थम्' उत्तर देती हैं। उनका महत्व इसमें है कि वे विभु हैं, व्यापक हैं, सहिष्णु है, सबकी बातों को सुनती हैं और उत्तर देती है। हैमलेट से बहुतों ने प्रश्न किये हैं। हमें देखना इतना भर ही है कि ये प्रश्न सर्वथा असंगत तो नहीं है ? यदि यह बात है तो उनकी सार्थकता सिद्ध है। इतिहास भी आलोचक की सहायता कर सकता है और करता है। पर वह सहायक मात्र है। ऐसा नहीं कि ऐतिहासिक आलोचना जो कुछ कहती है वही एकमात्र तथा अकाट्य सत्य है।

३

रस-सिद्धान्त

डा० नगेन्द्र की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'रस-सिद्धान्त' के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करने के साथ ही मुझे अपने शैशव काल में पढ़े हुए एक श्लोक की स्मृति जाग पड़ती है।

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ।।

जिसका अर्थ यह है कि जहां पर विद्वानों की चर्चा होती हो वहां जिस व्यक्ति की ओर अनायास ही अंगुली उठ जाती हो और लोगों का ध्यान तुरन्त आकर्षित हो जाता हो उसी व्यक्ति को उत्पन्न कर मां सच्चे अर्थों में पुत्रवती कही जा सकती है। उसी तरह आज जब हम हिन्दी-साहित्य मे काव्य-शास्त्र तथा उसके विकास की प्रगति का पर्यवेक्षण करते हैं तो हमारी दृष्टि डा० नगेन्द्र और 'रस-सिद्धान्त' की ओर जाती है। 'रस-सिद्धान्त' जैसा कि लेखक ने अपने निवेदन मे स्वीकार किया है उसकी साहित्य साधना की परिणति है और तीस वर्षों मे काव्य के मनन और चिन्तन से उसके मन मे जो अन्तःसंस्कार बनते रहे हैं उनकी संहृति 'रस-सिद्धान्त' मे पाई जा सकती है। अतः, 'रस सिद्धान्त' पर विचार करते हुए हम पुस्तक पर तो विचार प्रकट करेंगे ही, परन्तु डा० नगेन्द्र पर भी विचार करना अनिवार्य हो जाएगा क्योंकि डा० नगेन्द्र और रस-सिद्धान्त दोनो घुलमिलकर इस तरह एक हो गए हैं कि दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खीचना कठिन है।

इत गान्धी अरु सत्य को मिलन भयो भलि चाहि ।
या नहिं छांड़त वाहि को वा नहिं छांड़त याहि ।।

इसलिए रस-सिद्धान्त को डा० नगेन्द्र से अलग कर देखना कठिन है। इसलिए कठिन है कि हमारी दृष्टि अनायास ही आज से ३० वर्ष पहले के

काव्यशास्त्रीय अध्ययन की ओर आकर्षित हो जाती है, जो वस्तुतः दयनीय-सी ही थी।

पर आज वह परिस्थिति बदल गई है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रायः जितने ग्रंथ है उनका अच्छा विशद, बोधगम्य, विस्तृत अनुवाद उपलब्ध है और यदि थोड़ा भी मेधावी और परिश्रमी विद्यार्थी हो तो वह काव्यशास्त्रसम्बन्धी कठिन नियमो का भी स्वयं अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस सुविधा-जनक और वांछनीय परिस्थिति को सुलभ बनाने मे मुख्य प्रेरक की खोज होने लगेगी तो सहसा हमारा संकेत डा० नगेन्द्र की ओर होगा—इसमे किसी तरह के सन्देह का अवसर नही है। यहां पर काव्यशास्त्र के उन ग्रंथों के नाम गिनाने की आवश्यकता नही जिनका सम्पादन स्वयं डा० नगेन्द्र ने किया है अथवा स्वयं लिखे है अथवा उनकी प्रेरणा से लिखे गए है। हिन्दी काव्यशास्त्र तथा आलोचना से थोड़ा भी सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति उनसे पूर्ण रूप से परिचित है। जिस वक्त हिन्दी मे काव्यशास्त्र के विकास का इतिहास लिखा जाएगा और इतिहासकार राग-द्वेष से मुक्त होकर तटस्थ दृष्टिकोण से विचार करने लगेगा उस वक्त डा० नगेन्द्र की इस महनीय सेवा को भुलाना उसके लिए कठिन होगा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मुझे तो अनायास वह प्रसंग याद आ जाता है जिसमे कुमारिल भट्ट के द्वारा वेदोद्धार की कथा कही जाती है। सरस्वती रो-रोकर कह रही है कि—

किं करोमि क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति।
मा रोदिहि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले॥

उसी तरह मेरी कल्पना में संस्कृत काव्यशास्त्र का पठन-पाठन जैसा कि रस-सिद्धान्त के पढ़ने से मालूम होगा मम्मट के बाद, नही तो पंडितराज जगन्नाथ के बाद अवश्य ही एक तरह से रुक ही गया था। उस समय मौलिक चिंतन का प्रवाह अवरुद्ध-सा हो गया था। उस प्रवाह के अवरोध का विनाश अब जाकर हुआ है और मौलिक चिंतन का मार्ग उद्घाटित हुआ है। दूसरे शब्दों मे वेदो का मतलब, काव्यशास्त्र का उद्धार अब हुआ है, हो रहा है और यह उद्धारीकरण की प्रक्रिया और कुछ दिनों तक चलेगी। शुक्लजी ने जरूर इसकी प्रेरणा दी थी और काव्यशास्त्र की समस्याओ पर भी मौलिक रूप से विचार प्रारम्भ किया था। उनकी दृष्टि नीतिवादी थी और वे परम्परा के पालक भी थे परन्तु इस ओर उनका कार्य केवल अग्रयायी (पायोनियर) का ही रहा। एक तो उनका बहुत-सा समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास की ओर

तथा सूर, तुलसी और जायसी के अध्ययन की ओर ही लगा रहा। दूसरे जब उनका ध्यान रस-मीमांसा की ओर गया और वे काव्यशास्त्र की समस्याओं पर गम्भीर चिंतन मे प्रवृत्त हुए तब वे काल-कवलित हो गए। इसलिए उनका यह कार्य अधूरा-सा ही रहा। इस कार्य को अग्रसर डा० नगेन्द्र ने किया है और आज भी उनके हाथों इस महान् अनुष्ठान का सम्पादन हो रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को युगों के रूप में विभाजित करने की प्रथा है और किस प्रवृत्ति का कौन जन्मदाता है इस पर भी विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी के अध्येताओं के लिए यह एक विचारणीय प्रश्न रहा है कि रीतिकाल के प्रवर्त्तक के रूप मे किसको स्वीकृत किया जाय—केशव को या चिंतामणि को। पक्ष मे और विपक्ष मे पर्याप्त तर्क उपस्थित किए जाते हैं। अभी हाल में हिन्दी के बड़े-बडे दिग्गजों की गोष्ठी इलाहाबाद मे हुई थी जिसमे यह प्रश्न विचारणीय था कि हिन्दी मे आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु से माना जाए या महावीर प्रसाद द्विवेदी से? ऐसे प्रश्नों को छेड़ने और उन पर ऊहापोह करने का भी अपना महत्व है क्योंकि इस छान-बीन के दौरान मे बातें स्पष्ट होकर हमारे सामने आती हैं और प्रश्न के बहुत से पहलू भी दृष्टि मे आते हैं जो अन्यथा नजरों से ओझल ही रहते। उसी तरह यदि मुझसे कोई पूछे कि हिन्दी साहित्य मे १९३० के बाद जो धारा प्रबल रूप से प्रस्फुटित हुई वह कौनसी धारा है तो मुझे कहने मे कोई हिचक नहीं होगी कि वह काव्यशास्त्र की धारा है। इस युग को मैं "आलोचना युग' भी कह सकता हूँ यदि आलोचना की सीमा को थोड़ा-सा विस्तृत कर उसे काव्यशास्त्र तक पहुंचा दिया जाए। आखिर यह तो सभी मानते है कि आज के युग मे हिन्दी में आलोचना की धारा बडे वेग से बह रही है। यह प्रश्न दूसरा है कि वह धारा पंकिल है, कूडे-कर्कट से भरी हुई है अथवा स्वच्छ निर्मल और स्वास्थ्यवर्द्धक है। मेरे जानते जो पंकिलता, अनाविलता और गुटबाजी का दोषारोपण आज की आलोचना पर किया जाता है वह तो तत्कालीन इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि आलोचना क्षेत्र का शाश्वत तत्त्व है। सदा ही आलोचना के सम्बन्ध मे वही बातें कही जाती हैं जो आज कही जा रही हैं। इसलिए ऐसी बातो को बाद देकर ही हमें वास्तविकता की पहिचान करनी होगी।

हिन्दी में गत २० वर्षों मे साहित्य और काव्यशास्त्र का गम्भीर विवेचन जिस आवेग और उत्साह के साथ हुआ है वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास

के लिए अभूतपूर्व वस्तु है। प्राचीन साहित्यशास्त्र के बारे मे तो विशेष कुछ कहा नही जा सकता क्योकि इतिहास की सारी कड़िया हमारे सामने स्पष्ट नही हैं। भरत और दण्डी के बीच में शताब्दियों का अन्तर है। इन दोनों के बीच काव्यशास्त्र की चिंतनधारा किस ओर बहती रही यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जो कुछ कड़ियां हम जोड़ सकते हैं वह इन पुस्तकों मे उल्लिखित बातों के आधार पर किया गया अनुमानमात्र है। भले ही उस अनुमान के लिए हमें कुछ आधार मिल जाते हों। भरत के बाद काव्यशास्त्र की चिंतनधारा किस ओर प्रवाहित हुई होगी और रस-सिद्धान्त के विरुद्ध किस तरह की प्रतिक्रिया किस-किस रूप में हुई होगी, फिर आगे चलकर रसशास्त्र के प्रति काठिन्य किस प्रकार गला होगा और तत्पश्चात् ध्वनिशास्त्र में किस तरह समन्वय की चेष्टा की गई होगी उसका स्वच्छ तथा दर्पण की तरह साफ इतिहास यदि आपको देखना हो तो "रस-सिद्धान्त" से अन्यत्र जाने की कोई जरूरत नही। शायद कोई ऐसा अन्य साधन भी नही है। जिस व्यक्ति ने इस तरह श्रमपूर्वक कौड़ी-कौडी माया बटोर कर एक नया संसार आपके सामने अपने भरेपूरे रूप मे उपस्थित कर दिया हो उसके प्रति किसका हृदय कृतज्ञता से भर नही जाएगा।

काव्यशास्त्र एक बहुत ही दुरूह विषय है। तत्वों की छानबीन से एक तो स्वयं लेखक की तबियत ऊब जाती है और दूसरी ओर पाठक भी इस तरह की छुईमुई की दुनियां के मायाजाल में पड़कर ऊब जाता है। इसलिए इस क्षेत्र मे सफल साहित्य-कर्म के लिए उन चीजों की जरूरत पड़ती है जिनका मम्मट ने काव्य के सम्बन्ध मे उल्लेख किया। शक्ति, लोकशास्त्र तथा काव्य के अध्ययन से प्राप्त निपुणता और काव्यज्ञशिक्षाभ्यास। ये सब बातें रस-सिद्धान्त के प्रणेता मे प्रचुर रूप से पाई जाती हैं। परन्तु सबसे ऊपर जो अभीष्ट साधक वस्तु उसमे पाई जाती है वह है बाहर से भिन्न-भिन्न सी लगने वाली उपाधियों की तह मे मूल प्रेरणा के रूप से सक्रिय रहने वाली प्रवृत्ति की पहचान अर्थात् अनेकता में एकत्व सूत्र को ढूढ निकालने की शक्ति और यह कार्य वही कर सकता है जो कवि-हृदय हो, जिसमे कल्पना करने की शक्ति हो, जो टूटी हुई कडियो को अपनी कल्पना की तड़प से भर देता हो। यह शक्ति 'रस-सिद्धान्त' के लेखक मे पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। कहीं से भी पुस्तक उठा लेने पर इसका प्रमाण उपलब्ध हो सकता है। और, इसका बहुत कुछ श्रेय लेखक की इसी कल्पनाशक्ति को है।

डा० नगेन्द्र ने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ किया था और उस क्षेत्र में भी काफी प्रतिभा का परिचय दिया था। बाद मे वे मुड़ कर आलोचना के क्षेत्र मे आए—क्यो आए ? इसकी व्याख्या करना या तो ऐतिहासिकों का कार्य होगा या मनोवैज्ञानिको का और ऐतिहासिक प्रमाण यदि उपलब्ध न हो तो मनोवैज्ञानिक उसके लिए बहुत ही मनोरंजक व विश्वास-पूर्ण कारण बतला सकता है। पर फिलहाल मेरा वह विषय नही है। इस समय तो इतना ही कह सकते हैं कि कविता के क्षेत्र मे डा० नगेन्द्र ने जो ट्रेनिंग प्राप्त की वह बड़े गाढ़े मौके पर काम आई और काव्यशास्त्र को बीहड़ जालों में से निकल कर एक विकासशील धारा के रूप मे उपस्थित करने वाली शक्ति के रूप मे सहायक हुई।

दूसरी बात जो उन्हे इस कठिन साहित्य कार्य में सफलता प्रदान करने मे सहायक हुई है वह है उनकी स्पष्ट और अभिव्यंजक, सजीव और सशक्त भाषा। उन्होंने लिखा तो है काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो के विवेचन पर, किन्तु जिस भाषा का उन्होने प्रयोग किया है वह एक वैज्ञानिक की है जो बहुत ही स्पष्ट और साफ ढंग से अपनी बात का प्रतिपादन करती है। उदाहरणार्थ भरत के रस-निष्पत्ति-विषयक प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः' में 'संयोग' से क्या अभिप्राय है यह विवादास्पद रहा है। डा० नगेन्द्र इस पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, विश्वासोत्पादक प्रमाण देंगे, अन्त में सबका समाहार करते हुए कहेंगे—'सूत्र बना: संयोग=उपचय-उपचायक, सम्बन्ध=उत्पाद्य-उत्पादक+गम्यगमक+पोष्य-पोषक सम्बन्ध। ऐसा लगता है कि कोई वैज्ञानिक बोल रहा हो समीकरण की भाषा मे।

डा० नगेन्द्र अभिनवगुप्त के प्रशंसक हैं, परन्तु उसकी सीमाओं का उल्लेख करते हुए उन्हे कहना है कि अभिनव ने शकुक तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों के साथ न्याय नही किया, उन्हे अपने रंग मे इस तरह रग दिया कि उनका वास्तविक रूप ही छिन गया। डा० नगेन्द्र कहेंगे—'श्री शकुक के विवेचन मे भी कला-सम्बन्धी अनेक मूल्यवान् संकेत हैं परन्तु अभिनव ने भट्ट तौत की सहायता से दर्शन के अखाड़े मे उन्हे ऐसा पछाड़ा है कि उनके गुण भी मिट्टी मे मिल गए हैं। भट्टनायक के सिद्धान्तों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वे अत्यन्त पुष्ट, गंभीर आधार-भूमि पर स्थित है, काव्य-चिंतन के विकास में उनका योगदान अभूतपूर्व है, स्वयं अभिनव ने उनके आधारभूत सिद्धान्तों को यथावत् स्वीकार कर लिया है। फिर भी उन्हे इस बुरी तरह रगड़ा गया कि

एक हजार वर्ष तक भट्टनायक का महत्व प्रायः नगण्य ही बना रहा'—यह बहुत ही पारदर्शक, स्पष्ट और निर्मल शैली है। ऐसा लगता है, लेखक जरा शास्त्रीय गम्भीरता के उच्च स्तर से उतर कर भूमि पर स्थित पाठको को हाथ बढाकर ऊपर खींच लेने की चेष्टा करता हो ताकि शास्त्रीय गम्भीर बातों को बोधगम्य रूप मे मजे-मजे मे गले के नीचे उतारा जा सके।

कहा जाता है कि संस्कृत पंडितों की भाषा थी, जनसाधारण की नही। इसलिए सस्कृत मे जो ग्रन्थ लिखे जाते थे वे उच्चकोटि के गम्भीर और चिंतनपूर्ण होते अवश्य थे पर उनका लक्षीभूत पाठक, उच्चकोटि का विद्वान् पाठक होता था, सर्वसाधारण नही—इसीलिए जहां संस्कृत तत्तद् विषयो की उच्च से उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन कर सकी, वहां वह कुछ लाख क्या हजारों तक भी अपने ज्ञान का प्रसार नही कर सकी। पता नही संस्कृत के विरुद्ध यह जो लांछन लगाया जाता है वह कहां तक सत्य है। परन्तु इस लांछन के लिए सबसे अधिक प्रमाण यदि मिला होगा तो काव्यशास्त्र के ग्रन्थों ने ही उसे प्रस्तुत किया होगा। दो–एक काव्यशास्त्रियों को छोड़कर अभिनव इत्यादि जितने काव्यशास्त्री हुए हैं उनकी शैली इतनी निविड, वागाडम्बरपूर्ण, कठिन और दुरूह है कि कभी-कभी तो सामान्य तथ्य भी उलझ जाते हैं, गम्भीर तत्वों के सुलझने की तो बात ही दूर है। विशेषतः अभिनवगुप्त तो इसके लिए महान अपराधी हैं। परन्तु हिन्दी के काव्यशास्त्र का यह उद्धारक इस दोष से बचकर चलता है। वह सूक्ष्म, गहन, दार्शनिक तत्वों का भी इस तरह विश्लेषण करता है कि उसे सामान्य जिज्ञासा की बुद्धि सहज ही ग्रहण कर लेती है। इस दृष्टि से मैं इस काव्यशास्त्र के नए उद्धारक को अभिनवगुप्त का नया अवतार मानता हूं, केवल इस रिजर्वेशन के साथ कि उसमें अभिनवगुप्त की शैली की निविडता नही है। मैंने अभी 'रस-सिद्धान्त' के लेखक को अभिनवगुप्त का नूतन अवतार कहा है। बात कुछ बडी-सी और अनुपात-हीन-सी मालूम पड़ सकती है और ऐसा लगता है कि अतिपरिचयादवज्ञा वाली वृत्ति इसे हमें ग्रहण करने मे बाधक बनेगी। परन्तु मैंने जान बूझकर यह बात कही है। सम्भव है कि विचारों की मौलिकता के क्षेत्र मे 'रस-सिद्धान्त' का लेखक अभिनवगुप्त की प्रतिस्पर्धा नही कर सके। हालाकि यह बात भी मैं अतिपरिचयादवज्ञा वाली वृत्ति के लिए कन्सेशन के रूप में कह रहा हूँ क्योंकि डा० नगेन्द्र में मौलिक विचार देने की शक्ति की कमी नही है। परन्तु यदि यह कमी मान भी ली जाए और यह स्वीकार किया जाए कि ये अभिनवगुप्त की समता मौलिकता

के क्षेत्र में, सूक्ष्म-गहन तात्त्विक विश्लेषण के क्षेत्र में नहीं कर सकने पर जहाँ तक 'प्रसन्नस्तिमितप्रवाह' शैली का प्रदर्शन है, उसमें अभिनवगुप्त भी डा० नगेन्द्र की समता नहीं कर सकते। इसलिए एक क्षेत्र की कमी दूसरे क्षेत्र की वृद्धि के द्वारा पूरी हो जाती है।

यदि अभिनवगुप्त की बातों को ही प्रमाण माना जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा स्थापित सिद्धान्तो को अच्छी तरह सगति बैठा कर उपस्थित कर देना भी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना के ही बराबर है। 'पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूल-प्रतिष्ठाफलमामनन्ति'—मतलब यह कि आख्यान और पुनराख्यान करने वाले गम्भीरचेता आचार्य भी मौलिक विचारक की श्रेणी मे ही आते हैं। हिन्दी मे काव्यशास्त्र पर आज कुछ ग्रथ उपलब्ध है परन्तु इस तरह से स्पष्टतापूर्वक विचारो का प्रतिपादन करने वाला और वेदों से लेकर भरत तक और भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक काव्य शास्त्रीय चिंतन की जो एक धारा चलती रही है उसके स्पष्ट प्रवाहसूत्र को सम्यक् रूप से पकड़ने वाला दूसरा कोई विचारक नही हैं। डा० नगेन्द्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होने एक सार्वभौम रस-सिद्धात का अनुसंधान किया है और देशी व विदेशी प्रत्येक सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए, उसके गुणो की प्रशंसा करते हुए, रस सिद्धात के रूप मे उपस्थित किया है। सभव है कि इस प्रयत्न मे उन्हे कही-कही पर खीचातानी भी करनी पड़ी हो पर वह खीचातानी भी जिस ढग से की गई है उसके पीछे भी एक प्रौढ और चिंतन-शील मस्तिष्क का आधार है। मैं किसी से 'रस-सिद्धान्त' के लेखक की तुलना नही करता—तुलना सदा ठीक भी नही होती परन्तु आज हम जब शंकराचार्य या रामानुज के सिद्धान्तों का अध्ययन करने लगते हैं या मीमासाशास्त्र की वेद-सम्बन्धी उप-पत्तियो का अध्ययन करते है तो हम उससे सहमत भले ही न हो पर जिस शक्ति, ताकत, आवेग और पाण्डित्य के द्वारा वे अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं उसे यो ही कहकर टाल देने की हिम्मत नही रहती। इसी तरह की मनोवृत्ति रस सिद्धान्त के लेखक का अध्ययन करते समय बनी रहती है। यह लेखक भी कहीं तो अपनी चिंताधारा की मौलिकता से और कही अपनी शैली के द्वारा पाठक को अभिभूत कर लेता है।

वास्तव में हिन्दी मे साहित्य शास्त्र के अध्ययन की जो परिस्थिति है उसमे क्रान्तिकारी मौलिक विचारधारा का आविर्भाव आज सम्भव भी नही मालूम होता। हमारी सबसे बड़ी समस्या यह है कि सस्कृत के काव्यशास्त्र के

विशाल क्षेत्र में जो सूक्ष्म, गहन, विशद तथा सर्वांगपूर्ण विचारधारायें एक तरह से अस्तव्यस्त रूप मे उपलब्ध हैं उनको व्यवस्थित तथा बोधगम्य रूप में पाठकों के लिए उपलब्ध कर दिया जाए। जब पाठक इन विचारधाराओ से पूर्ण रूप से परिचित हो जायेगा और इनके मर्म को ठीक तरह से स्वायत्त कर लेगा तब स्वयं ही मौलिक चिंतन का द्वार खुलेगा। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे मम्मट ने यह कार्य किया था। भरत ने रसविवेचन के व्यावहारिक तथा अभिनव ने रस विवेचन के तात्विक तथा दार्शनिक विचारो को सुलझे हुए रूप मे पाठको के लिए उपलब्ध कर दिया था। आज यही कार्य हमारे लिए आवश्यक है और प्रकृति स्वयं हमारे लिए कुछ लेखको को निमित्त बनाकर, जिनमे 'रससिद्धांत' का लेखक भी एक है, अपना कार्य सम्पादन कर रही है। न जाने क्यों मैंने अपने मन मे यह बात स्वीकृत कर ली है कि किसी युग में साहित्य या विज्ञान के क्षेत्र मे जो कार्य होता है वह उस युग के लिए जैविक और मनोवैज्ञानिक मांग है जिसकी पूर्ति प्रकृति या कह लीजिए हमारी सामूहिक चेतना स्वयमेव करती है। कवि या लेखक स्वय गलत हो सकता है पर कविता व साहित्य कभी गलत नही हो सकता। जिस रूप में वह अपने स्वरूप को प्रकट करता है वही उसका सच्चा स्वरूप है।

वास्तव में हिन्दी मे काव्यशास्त्र का गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन उस समय प्रारम्भ हुआ जिस समय 'रस-सिद्धान्त' के प्रणेता डा० नगेन्द्र की पुस्तक 'रीतिकाव्य की भूमिका' प्रकाशित हुई। डा० नगेन्द्र की प्रतिभा को जो कुछ काव्यशास्त्र के क्षेत्र में, अनुदान के रूप मे देना था, वही बीज रूप में रीतिकाव्य की भूमिका मे विद्यमान है। मैंने वही पर प्रथम रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी इतना सुन्दर और सांगोपांग विवेचन पढ़ा था। साधारणीकरण के सम्बन्ध मे कुछ बाते पढी तो अवश्य थी परन्तु सूक्ष्म, गहन, तात्विक विवेचन पहले पहल वही पर पढने को मिला। गान्धीजी द्वारा दाँडी मार्च का उदाहरण देकर उन्होंने काव्यानुभूति और वास्तविक अनुभूति मे पार्थक्य का निर्देश करते हुए जो रसानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट किया है वह अपनी स्वाभाविकता और सहजता मे अद्वितीय है। साधारणीकरण किसका होता है इस प्रश्न को छेड़ते हुए साथ ही प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए उन्होने जो इस मत की स्थापना की हैं कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है वह तो मुझे उस सम्बन्ध में अन्तिम शब्द-सा मालूम पड़ता है। इधर के कुछ लोगों ने उनके मत से थोड़ा मतभेद दिखलाने का प्रयत्न किया है और शुक्लजी के प्रति

श्रद्धा का प्रदर्शन किया है। परन्तु उनके विचारों में कोई अधिक चिन्तन का वल नही जान पड़ता। शुक्लजी गुरु है और आज के हम सब उनके शिष्य हैं और उनसे मतभेद प्रदर्शन करने मे गुरुद्रोह की गन्ध आ सकती है। इसलिये डा० नगेन्द्र के सिद्धान्त के विरुद्ध पाठक को जीत लेने मे कुछ सुविधा होती है। इसको छोडकर इन विचारों मे तर्क-वितर्क का कोई पुष्ट आधार नही है। इस प्रकार रस सिद्धान्त मे काव्यशास्त्र का वृक्ष लहलहाता सा दिखलाई पड़ रहा हैं उसका वीज 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे ही पड़ गया था। भरत ने नाट्यशास्त्र में एक जगह कहा है--

यथा वीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

उसी तरह मैं 'रीतिकाव्य की भूमिका' को वीजस्थानीय मानूगा; उसके प्रकाशन के वाद तथा रससिद्धान्त के प्रकाशन के पूर्व डा० नगेन्द्र के द्वारा लिखित या सम्पादित उदाहरणार्थं 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' इत्यादि ग्रंथ वृक्ष स्थानीय होंगे और रससिद्धान्त पुष्प अथवा फल स्थानीय होगा।

वास्तव में मौलिक प्रतिभा एक ही कार्य करती है और वह यह कि एक ऐसे व्यापक और सार्वभौम सिद्धांत की स्थापना करे जो अपने व्यापकत्व की सीमा में संसार के सारे प्रपंचो को समेट कर उसकी वोधगम्य और उचित व्याख्या प्रस्तुत कर सके। शंकराचार्य ने वहुत से ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उन सवों का सारतत्व एक आधे श्लोक मे कह दिया गया है--

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि. यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किंचन॥

अर्थात् शंकराचार्य का पूरा साहित्य 'ब्रह्म सत्यं और जगन्मिथ्या है। पाच अध्यायो में रस सिद्धान्त को लेकर जो प्रश्न प्रायः उठाए जाते हैं, रस की परिभाषा क्या है? रस का स्वरूप क्या है? रस की निष्पत्ति किस तरह होती है, रस-संख्या, संकोच और विस्तार, रसविरोध इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया गया है। इन प्रसंगों मे विचारों के प्रतिपादन के लिए एक विशिष्ट पद्धति का अनुगमन किया गया है। प्रारम्भ मे विचारणीय विषय के सम्वन्ध में जितने मत-मतान्तर हो सकते हैं प्राचीन या अर्वाचीन, सवका संग्रह किया गया है, जहां पर व्याख्या की आवश्यकता पड़ी है उसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। यही पर डा० नगेन्द्र के स्कालर का रूप अपने पूर्णवैभव के साथ

प्रकट हुआ है। यद्यपि अन्तिम विश्लेषण वे, में मेरे मतानुसार समालोचक (क्रिटिक)ही हैं, स्कॉलर नहीं, क्योंकि स्कॉलर शब्द से एक ऐसे ज्ञान-पर्वत की कल्पना साकार हो उठती है जो अपनी मगरूरी में तनकर खड़ा हुआ, सबकी अवहेलना-सी करता रहता है। पर फिर भी 'रससिद्धान्त' के प्रणेता में स्कॉलरशिप का अभाव है यह कहने वाला सचमुच बड़ा साहसी होगा। मुझे नही मालुम कि किसी भी देशी या विदेशी भाषा के ग्रन्थ में भारतीय काव्य-शास्त्र विषयक ऐसी ज्ञानराशि एकत्र मिलती हो। इसलिए डा० नगेन्द्र को हम स्कॉलर-क्रिटिक ही कहकर कुछ संतोष प्राप्त कर सकेंगे। ज्ञान और दृष्टि का ऐसा दुर्लभ मणिकांचनसंयोग बहुत कम मिलता है।

इस तरह विचारों को एक स्थान पर संकलित कर उनके पारस्परिक तारतम्य का विचार किया गया है और अन्त में चलकर अपनी सम्मति दी गई है जो कहीं औरों से मिलती भी है और कही अपनी मौलिकता की दीप्ति से कान्त भी है। उदाहरण के लिए रसनिष्पत्ति तथा रस का स्थान एवं साधारणीकरण की समस्याओं को लीजिए जिनका वर्णन तृतीय अध्याय मे किया गया है। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक "रस-सिद्धान्त" को लेकर इतिहास का जो विकास होता रहा उसको इस ग्रंथ के लेखक ने इतने सुलझे हुए ढंग से उपस्थित किया है कि आज हम दो हजार वर्षों के इतिहास को एक वाक्य मे कह सकते हैं। अंग्रेजी कथा-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक जे० डब्ल्यू० बीच नेकथा-साहित्य के विकास के इतिहास को दो शब्दों मे कहा है—"एग्जिट ऑथर" अर्थात् अंग्रेजी कथा-साहित्य के विकास का इतिहास कथा से कथाकार के तिरोहित होने का इतिहास है। उन्हीं के शब्दों को उधार लेकर एक आलोचक ने यह कहा था कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य का इतिहास, मनोविज्ञान के विकास तथा कथा-भाग के ह्रास का इतिहास है। मतलब यह कि जैसे-जैसे उपन्यास कला में विकास और प्रौढ़ता आती गई है, वैसे-वैसे लम्बी चौड़ी कथाओं के प्रति एक तरह की उदासीनता आती गई है और कथाभाग बहुत छोटा रूप धारण करता गया है। इसी तरह डा० नगेन्द्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करने वाला बड़े मजे मे यह कह सकता है कि भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक रस-सिद्धान्त के विकास की कहानी रस को वस्तुनिष्ठता की स्थिति से हटाकर आत्म-निष्ठता की स्थिति में धीरे-धीरे परिणत करने का इतिहास है। भरत ने जिस रूप मे रस का विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता है कि रस की सत्ता

विषयगत है और उसका स्थान नाट्य है। रस का स्थान नाट्य है, रंगमंच है, और तज्जन्य हर्षादि का स्थान सहृदय का चित्त है। रस आस्वाद्य है आस्वाद नही—मै यहां पर "रससिद्धान्त" की व्याख्या नही कर रहा हूं परन्तु जब मैं लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के रस-विषयक विचारों पर विचार करता हूं तो मुझे ऐसा ही लगता है कि वह रस जो पहले कही बहुत दूर स्थान पर पड़ा हुआ था उसे बहुत परिश्रम कर अपनी तपस्या के द्वारा इन लोगों ने धीरे-धीरे सहृदय के चित्त मे प्रवाहित कर दिया जिस तरह स्वर्ग में रहने वाली गंगा को भागीरथ इत्यादि ने इस भूतल पर लाकर सबके हृदय मे प्रवाहित कर दिया। भरत के अनुसार रस का स्थान नाट्य है। लोल्लट ने उसे वहां से हटाकर मूल पात्र में स्थापित किया। इस तरह थोड़ी-सी आत्मनिष्ठता आई। शंकुक ने रस की स्थापना नट और उसके अभिनय मे की, इस तरह आत्मनिष्ठता का अधिक अंश आया। भट्टनायक ने उसे सहृदय के चित्त से सम्बद्ध कर दिया लेकिन फिर भी उसकी वस्तुनिष्ठता बनी ही रही। अभिनवगुप्त ने उसको सहृदय की आनन्दस्वरूपता ही प्रदान कर दी। पंडितराज जगन्नाथ ने आकर भग्नावरण चित् को ही रस मान लिया। इस तरह काव्यशास्त्र में विचार की जो एक धारा प्रवाहित होती आ रही थी उसकी एकसूत्रता को हम देखने में समर्थ हो जाते हैं। जो एकसूत्रता पहले हमारी नजरों से ओझल थी, आज "रससिद्धान्त" के इस लेखक ने हमारे हाथ मे एक टार्च दे दिया है जिसके द्वारा वह एकसूत्रता सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

व्यक्तिगत रूप में मुझे इस एकसूत्रता की बात को पढकर बहुत ही संतोष हुआ, क्योंकि मैंने कभी मस्जिद और दीपक के रूपक में रस-सिद्धान्त को समझने की चेष्टा की थी। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि पहले घर में दीए को जलाकर तब मस्जिद मे जलाना चाहिए। पर रस-सिद्धान्त के इतिहास मे गगा उल्टी ही बह रही थी। भरत, रस के दीपक को घर मे अर्थात् सहृदय के हृदय में न जलाकर मस्जिद मे अर्थात् नाट्य मे, कथावस्तु में जलाने की ही चेष्टा करते थे। यह स्थिति अस्वाभाविक थी और बहुत दिनों तक चल नही सकती थी। जब तक दीपक घर मे जलकर उसे उद्भासित नही करेगा तब तक हृदय को शान्ति नही मिल सकेगी। लोल्लट ने और शंकुक ने रस के दीपक को मस्जिद से हटाया और घर के समीप लाने का प्रयत्न किया पर फिर भी वह घर से दूर ही था। भट्टनायक ने उस दीपक को सहृदय के चित्त की

देहली पर जला दिया। अभिनवगुप्त ने उसे सहृदय के चित्त के केन्द्र में स्थापित कर दिया और पंडितराज जगन्नाथ ने तो सहृदय के चित्त को ही दीपक रूप मान लिया अर्थात् रस की सत्ता को एकान्त रूप से विपयिगत बना दिया।

डा० नगेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण का सिद्धान्त अपने रूप मे सर्वथा मौलिक और निर्भ्रान्त है। यदि हम यह मान लेते हैं, जैसा नगेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होवा है तव हमारी सभी समस्याएं सुलझ जाती हैं। केवल आश्रय या केवल आलम्बन का साधारणीकरण नही होता। इस प्रसंग मे डा० नगेन्द्र ने अपने मत के सम्बन्ध में जो तर्क दिया है उसे पढ़ने पर ही उसका आनन्द आ सकता है। यहां पर मुझे एक बात कहनी है, 'रससिद्धान्त' के लेखक ने राकेश गुप्त की पुस्तक Psychological Studies in Rasa मे उल्लिखित रस-सम्बन्वी तथा साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों का कही भी न तो उल्लेख किया है न उस पर विचार ही किया है। वह पुस्तक छोटी सी है किन्तु उसमें कही-कहीं बहुत ही विचारोत्तेजक सामग्री संकलित की गई थी। उदाहरणार्थ, उन्होने यह प्रश्न छेड़ा भी था कि साधारणीकरण की बात तो बहुत की जाती है पर साधारणीकरण संभव भी होता है ? काव्य में तो व्यक्ति की ही मूर्ति आती है, इत्यादि।

रस संख्या के विस्तार और संकोच वाला प्रसंग भी मुझे बहुत रुचिकर लगा। यद्यपि प्रश्न नए नही हैं फिर भी इन प्रसगों को लेकर भी जिस तरह विचार सूचित किए गए हैं उनमें नवीनता का रंग आ गया है। जब मैंने नवीन रसों की नई-नई कल्पनाओं की बात पढी तो बड़ा मजा आया। प्रेयान् रस, उदात्त रस, उद्धत रस, मृगया रस, द्यूत रस, कार्पण्य रस, क्रान्ति रस, उद्वेग रस, प्रक्षोभ रस यहां तक कि आते-आते शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित प्रकृति रस की बात पढी तो आश्चर्यचकित हो गया। तब मन में यह आया कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक इतिहासरस की बात कही थी उसकी तरफ डा० नगेन्द्र का ध्यान क्यो नहीं गया और हिन्दी के एक आलोचक ने बहुत दबी जबान से ही एक मनोवैज्ञानिक रस की बात कही थी तो क्या बुरा था ? उसी तरह भारतीय काव्यशास्त्र मे रस-संख्या संकोच की भी एक प्रवृत्ति रही है। किसी ने चार रसों को मान्यता दी, किसी ने एक मूल रस की कल्पना की और भिन्न-भिन्न काव्यशास्त्रियो ने शृंगाररस, शान्तरस, करुणरस

अथवा अद्‌भुत रस की कल्पना मूल रस के रूप में की। इस प्रसंग में यद्यपि आलोच्य पुस्तक रससिद्धान्त मे डा० नगेन्द्र ने प्राचीनों के द्वारा स्थापित मतों को ही सुव्यवस्थित रूप मे पाठकों के सन्मुख उपस्थित किया है परन्तु फिर भी उस पर नए ढंग से विचार करने की प्रेरणा दी है। जब से भवभूति ने एक बार कह दिया–"एको रसः करुण एव" तब से लोगों पर इसका जादू इस तरह चढ़ा कि लोगो ने गंभीरतापूर्वक इस पर विचार तक नही किया कि यह नाटक के कविनिबद्ध पात्र की प्रौढोक्ति भी हो सकती है और इसे कवि का सिद्धान्त मान लेना भ्रामक भी हो सकता है। यह एक पात्र का विशेष नाटकीय परिस्थिति में काव्यमय उद्‌गार है। इसे शास्त्रवाक्य के रूप में ग्रहण करना उचित न होगा। यह भवभूति की सैद्धान्तिक मान्यता नही हो सकती है। डा० नगेन्द्र ने लोगों के मन मे करुण रस की एक-रस मूलता के रूप मे जम कर बैठने वाली बात को झकझोर दिया है। जब ये कहते हैं "भवभूति से पूर्व और उनके पश्चात् भी काव्यशास्त्र के किसी आचार्य ने करुण रस को मूल रस नहीं माना" तब पाठक को फिर से विचार करने की प्रेरणा मिलती हैं और वह सोचने लगता है कि भवभूति ने भी करुण रस को एकमात्र मूल रस के रूप में स्वीकार भी किया था या नही। डा० नगेन्द्र ने रससंख्या के अनावश्यक विस्तार को अधिक प्रश्रय नही दिया है व बतलाया है कि ये जितने प्रपंच हैं वे प्राचीन काव्यशास्त्रियो के द्वारा वर्णित भाव या रसाभास इत्यादि की सीमा मे ही आ सकते हैं। जहां तक मुझे ज्ञात है दशरूपककार धनंजय ने रसों की संख्या ८ से घटाकर ४ कर देने की सस्तुति की है। रस-सिद्धान्त में इसका कहीं भी उल्लेख नही किया गया है ? लेखक को इसके सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करना चाहिए था।

"रस सिद्धान्त" का पाँचवां अध्याय भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसमें रसदोष और उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा रसविरोध के परिहार की चर्चा की गई है। इसमे अन्य अध्यायों की तरह ही सस्कृत के काव्य शास्त्र के विशाल क्षेत्र मे जो विषयसम्बन्धी विचारकरण यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं उनको एक साथ करने का सफल प्रयत्न किया गया है और अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला गया है कि इस प्रसग मे जितनी बातें कही गई हैं वे केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपलक्षणमात्र हैं, उनको अकाट्य सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नही करना चाहिए। कोई भी ऐसा रसदोष या रसविरोध नही है जो परिवर्तित परिस्थिति मे गुण का रूप धारण न कर ले। दोष तभी तक दोष है, जब वह रस का अपकर्षक हो......'दोषाः तस्यापकर्षकाः।

पुस्तक का अन्तिम अध्याय 'रस-सिद्धान्त : शक्ति और सिद्धान्त' कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमे पाश्चात्य और पौर्वात्य सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए सबकी संगति रस सिद्धान्त से बैठाई गई है। संस्कृत के जितने काव्य सम्प्रदाय हैं उनके विवेचन के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इनमे बाह्य दृष्टि से देखने पर भले ही अन्तर दिखलाई पड़ता हो परन्तु वास्तविक भेद नही है, यदि भेद है तो बलाबल मात्र का। मैं जब काव्यशास्त्र का अध्ययन करता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि जिस युग मे संस्कृत काव्य शास्त्र का विकास हुआ उस समय एक प्रथा-सी थी कि अपने विरोधी मत वालों की ही शब्दावली अपने पक्ष में पडे और विरोधियों के विरुद्ध, मानो शत्रु के घर से ही तोप लेकर, उसी के विरुद्ध उसका मुंह घुमा दिया जाय। किसी ने कहा— वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम—दूसरे ने समझा कि जीवित शब्द बड़ा सशक्त है उसी को किसी तरह अपनी सेवा में नियोजित किया जाय। जैसे कोई अपने पड़ोसी के घर मे किसी बहुत ही चतुर सेवक को देखकर उसे फुसलाकर अपनी सेवा में कुछ अधिक वेतन देकर भी ले लेता है। अतः, कहा गया "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"। किसी ने काव्य की परिभाषा देते हुए कह दिया—"अनलंकृतिः पुनः क्वापि" इसी के संकेत-सूत्र को पकड़कर दूसरे ने कहा—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

रस सिद्धान्त के पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां तक भारतीय काव्यशास्त्र के सम्प्रदायों का प्रश्न है उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है— "अलकार, गुण (रीति) बिम्बविधान, प्रबन्धकल्पना आदि सभी रस के सहायक उपकरण हैं और रस की प्रतीति के लिए उनकी आवश्यकता अनिवार्य है। पृष्ठ ३२६ पर जब भारतीय काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों के तारतम्य को एक शब्द मानचित्र के द्वारा अथवा फार्मूले के द्वारा बतलाया गया है तो ऐसा लगता है कि कोई गणित का प्रोफेसर बोल रहा हो और प्रारम्भ मे मैंने जो स्थापना की है कि डा० नगेन्द्र ने काव्यशास्त्र लिखने के लिए वैज्ञानिक शैली अपनाई है तो मुझे अपने कथन के लिए दृढ़ आधार मिल जाता है।

उसी तरह रस का पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विभिन्न "वादों" के संदर्भ में भी अध्ययन करते हुए इनकी रस के साथ संगति बैठाने की चेष्टा की गई

है। ग्राभिजात्यवाद (क्लासिसिज्म) स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) ग्रादर्श वाद (ग्राइडियलिज्म), यथार्थवाद (रियलिज्म), प्रतीकवाद (सिम्बॉलिज्म) प्रगतिवाद इत्यादि के सम्बन्ध में, संक्षेप मे, किन्तु बहुत ही ग्रभिव्यंजक, सजीव ग्रौर विश्वासोत्पादक ढंग से सम्यक् विवेचन किया गया है। ग्रपने विवेचन का समाहार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—हमारी धारणा है कि रस-सिद्धान्त एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है जिसमे इन वादों का विरोध मिट जाता है, जो सभी के ग्रनुकूल पड़ता है ग्रौर सभी के स्वरूपों का समन्वय कर लेता है। पुस्तक के ग्रन्तिम कुछ पृष्ठो मे रस सिद्धान्त के विरुद्ध उठाए गए ग्राक्षेपों का यथोचित उत्तर देकर उनका समाधान किया गया है। सब समाधान सहज स्वाभाविक ग्रौर ग्रकाट्य नही होते, उनमें कही-कही ग्रपनी ग्रोर से ग्रारोपण ग्रौर खीचातानी ग्रा ही जाती है। प्रश्न यही है कि वह कहां तक कौशल तथा चातुर्य ग्रौर प्रज्ञापूर्ण ढंग से कहा गया है जिसमे उसकी ग्रोर ध्यान जाने नही पाता।

सारी पुस्तक के पढ़ने के बाद हमारी धारणा यही होती है—डा० नगेन्द्र भी प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियो की परम्परा मे ग्राते हैं। बातें मौलिक ग्रौर क्रान्तिकारी ग्रवश्य कहते हैं परन्तु ग्रपने को परम्परा का ग्रनुयायी कहते हैं—

प्रथम मुनिन्ह जे कीरति गाई।
सो मग चलत सुगम मोहि भाई॥

ग्रपने विचारों की स्थापना में उन्होने प्राचीन काव्यशास्त्रियो की पद्धति से ही काम लिया है। प्राचीन काव्यशास्त्री क्या करते थे? यही न, कि जिस किसी भी सिद्धान्त की स्थापना की उसी को इतना लचीला ग्रौर व्यापक बना दिया कि उसकी सीमा में सारे ग्रन्य सिद्धान्त समा जाय। कुन्तक ने वक्रोक्ति की स्थापना की, परन्तु उनकी वक्रोक्ति इतनी व्यापक है कि वह ग्रपने व्यापकत्व में रस ध्वनि इत्यादि को समेट लेती है। यही तो डा० नगेन्द्र ने भी किया है। वे रसवादी ग्रवश्य हैं पर उनका रस भरत, ग्रभिनव ग्रादि के रस से थोड़ा भिन्न है ग्रौर भिन्नता इसलिए ग्राई कि ग्राज उसको वैसी समस्याग्रो का सामना करना पड़ रहा है जो समस्याएं भरत, ग्रभिनवगुप्त, या पंडितराज जगन्नाथ के सामने नही थी। यदि रससिद्धान्त को जीवित रहना है तो उसे ग्रपने में परिस्थिति के ग्रनुकूल बन जाने की क्षमता जाग्रत करनी ही पड़ेगी।

"रससिद्धान्त" डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व के द्वारा इसी तरह की क्षमता अपने अन्दर जाग्रत कर रहा है। सभी जीवित तथा प्राणवान् पदार्थ यही करते हैं।

अन्त में मैं प्रतिभा, अध्यवसाय और लगन की इस पुस्तक "रस सिद्धान्त" का हिन्दी के कृतज्ञ साहित्य जिज्ञासुओं की ओर से स्वागत करता हूं। मैं आलोचक के रूप में वदनाम हूं। मुझे ऐसी पुस्तकें कम मिलती हैं जिनको पढ़कर में लेखक का कृतज्ञ हो सकूं। "रस-सिद्धान्त" कुछ दुर्लभ पुस्तकों मे से है जो अपनी शक्ति के वल पर ही मुझे अपना कृतज्ञ वना लेती है। मैंनें पुस्तकों को अपनी सुविधा के लिए तीन वर्गों मे विभाजित कर लिया है—

(१) कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनको पढ़कर ऐसा लगता है कि मेरे व्यक्तित्व मे समृद्धि आई है, मेरे ज्ञानभंडार की वृद्धि हुई।

(२) दूसरी श्रेणी मे वे पुस्तकें आती हैं जिनके अध्ययन के वाद यह लगता है कि मेरे ज्ञान में वृद्धि भले ही नहीं हुई हो, हां, मैंने कुछ खोया नहीं, कुछ पाया ही है।

(३) तीसरी श्रेणी उन पुस्तकों की है जिनके पढ़ने के पश्चात् यह लगता है कि हाय रे ! अपनी गांठ की पूंजी भी मैंने गंवा दी।

डा० नगेन्द्र की "रस सिद्धान्त" पुस्तक को हम निश्चित रूप से प्रथम श्रेणी की पुस्तकों में ही रखेगें।

४

भाषा की शक्ति

अब तक साधारणतः हमारी धारणा यही रही है कि साहित्य भाव-प्रधान होता है, हृदय के मूल प्रेरणावेग की उद्दामता पाठकों में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती ही है। भाषा जैसी तैसी हो, उसमें गौरव-गांभीर्य की थोड़ी कमी भी हो, तो कोई विशेष हानि नहीं। असल वस्तु है भावों की उग्रता, उनको अभिव्यक्त करने वाली भाषा का स्थान गौण है। 'भाव अनूठो चाहिये भाषा कोऊ होय' यह उक्ति बहुत दिनों तक लोगों की चिन्तनधारा पर अधिकार जमाये रही है और आलोचकगण जब कभी किसी काव्य का मूल्यांकन करने बैठे हैं, उन्होंने सर्वप्रथम उसमें भावों को टटोलने का प्रयत्न किया है और अधिक से अधिक अंक भावों के लिये ही सुरक्षित रखे। पर इधर कुछ वर्षों से, विशेषतः जब से अमेरिकावाली नई आलोचना का विकास होने लगा है, हमारे विचारों में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है। काव्य में भावों के आधिपत्य को संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है और यह धारणा घर-सी करने लगी है कि शब्द-शक्ति भावशक्ति से कहीं अधिक प्रबल है। साहित्य भाव–परक नहीं, शब्द–परक होता है।

यह बात तो शायद किसी को भी अमान्य नहीं होगी कि साहित्य या काव्य का मुख्य लक्ष्य प्रेषणीयता या प्रभविष्णुता है। वह और कुछ भी न करे पर उसे पाठक को प्रभावित तो करना ही चाहिये। प्रभाव-क्षेत्र के परिधि-विस्तार में तो शंका हो सकती है। यह बात तो विचारणीय हो सकती है कि वह कितने और कैसे लोगों को प्रभावित करे, अल्प-संख्यक विज्ञों को या बहुसंख्यक अज्ञों को? पर प्रभावोत्पादकतावाली बात कभी भी अस्वीकृत नहीं की जा सकती। एक बार यह बात मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि यह प्रभावोत्पादकता कहाँ रहती है? भावों में या शब्दों में? आज का साहित्यिक स्पष्टतः उत्तर देगा शब्दों में, भावों में नहीं। वह कहेगा कि भाव में, विचार में, मूल प्रेरणा में भले ही कोई अन्तर न हो, पर शब्दों के हेर-फेर से उसके प्रभाव में महान परिवर्तन हो सकता है। एक शब्दावली से अभीष्ट प्रभावोत्पादन होता है, दूसरी शब्दावली इस कार्य के लिये असमर्थ सिद्ध होती है और तीसरी से ठीक विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है, अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

शब्द बनाम भाव वाली समस्या प्राचीनो के सामने नही थी सो बात नही। 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' वाले विवाद मे जो वास्तविक समस्या है वह शब्द बनाम भाव की ही है। नही तो ऐसा क्यो होता कि दोनों के मूल भाव में एकता वर्तमान रहते ,भी एक कवि को कादम्बरी को पूरा करने का उत्तरदायित्व सौपा जाता और दूसरे को उस गौरव से वचित रखा जाता। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि यह संघर्ष खुलकर सामने नही आया था। कारण कि तब तक हम जीवन की वास्तविकता से कट कर सर्वथा अलग नही हो गये थे और फर्जी जीवन जीने नही लगे थे। बोलते जरूर थे, शब्दो का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इन शब्दो के पीछे कर्मशक्ति का बल भी था। शाब्दिक तथा कार्मिक जीवन में सामंजस्य था, शब्द वास्तविक भाव-विवर्जित नही होते थे। पर आज हम जिस युग मे जी रहे हैं उसमें शब्द का किसी मूल भाव से आबद्ध रहना कोई आवश्यक नही, वह उससे कटकर अपना स्वतन्त्र जीवन भी जी सकता है मानो कोई राकेट पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति की परिधि से परे होकर चक्कर काट रहा हो। वचन तथा कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के इतिहास को हम बड़े मजे से तीन भागों मे विभक्त कर ले सकते हैं। सर्वप्रथम तो अवस्था वह रही होगी जब कर्म और वचन मे कोई भेद था ही नही। मनुष्य कर्म मात्र करता होगा, बोलता होगा ही नहीं। वास्तव में उसका कंठ फूटा ही नही होगा, बोले तो कैसे। अतः, कर्म ही करता होगा। बोलता होगा ही नहीं। बाद में वह अवस्था आई जब वह बोलने लगा होगा पर फिर भी उसकी बोली किसी वास्तविक क्रिया का प्रतिनिधित्व करती थी। पर अब वह जमाना आगया है कि हम शब्दों के राज्य मे वास करने लगे हैं।

उदाहरणार्थ, मुझे भूख लगी। मैंने फल तोड कर खा लिया अथवा पत्थर उठाया और उस शिकार को मार कर उससे अपनी बुभुक्षा शान्त करली। किसी से कहने सुनने की आवश्यकता नही। बाद मे भूख लगने पर मैंने लोगों से कहना भी सीखा कि भाई मैं भूखा हूँ, मुझे भूख लगी है। शायद इसमे मेरे स्वार्थ की सिद्धि होती थी। कोई कुछ खाने के लिये दे देता था और मेरी भूख की तृप्ति हो जाती थी। पर भूख लगी है यह वाक्य मेरी वास्तविक भूख का प्रतीक था। ऐसा नही कि भूख नही है और मैंने कह दिया कि भूख लगी है। पर अब समय ऐसा आ गया है कि हमें भूख नही है तो भी हम कह सकते हैं कि भूख लगी है और यही बात भिन्न-भिन्न शब्दो के द्वारा कही जा सकती है।

शब्दों में क्या चमत्कार होता है, एक ही बात को दो भिन्न २ ढंगों से कहने से उसके प्रभाव में कौनसा महान अन्तर आ जाता है, इस बात को एक लेखक ने एक दृष्टान्त-कथा द्वारा समझाने की चेष्टा की है। दो कस्बे थे, एक दूसरे से बहुत ही दूरस्थ, परन्तु संयोगवश दोनों को एक ही तरह की समस्या का सामना करना पडा। दोनो ने अपनी समस्या को हल करने के लिये एक ही प्रकार के साधन से काम लिया। पर जहां एक को भूरि-भूरि सफलता मिली वहां दूसरे को सफलता तो क्या मिलती, स्थिति और भी जटिल बन गई। ऐसा क्यों ? शब्दो का चमत्कार ! दोनो ने एक ही साधन से काम लिया पर सफलीभूत क्षेत्रवालो ने अपनी क्रिया को दूसरे नाम से पुकारा। कथा यो है कि दोनो स्थानो मे आर्थिक मंदी छा गई थी और वहां पर बहुत से लोग बेरोजगारी के शिकार हो गये। भोज्य सामग्री की कमी न थी। बाजारो मे वस्त्र इत्यादि पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध थे, गृह-निर्माण के लिये भी स्थान का तथा उपयोगी वस्तुओ का अभाव न था पर इन चीजों को खरीदने के लिये लोगों के पास पैसे नही थे। इसलिये इन स्थानो की समस्या बड़ी जटिल हो गई थी।

रोजगारहीन व्यक्तियो ने अपने लिये नौकरी या जीविकोपार्जन के साधन ढूंढने के लिये जीतोड़ परिश्रम किया पर सफलता न मिली। वहां के जो सम्पन्न परिवार के व्यक्ति थे, वे शिक्षित, सहृदय, विवेकशील तथा हर तरह से सहायता की प्रवृत्ति से प्रेरित थे। वे गरीब परिवार के इन व्यक्तियों तथा उनके बीबी-बच्चो को भूखों मरते देखना नही चाहते थे और चाहते थे कि उन्हे आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। पर वहा के सब लोगो के— रोजगारहीन तथा सम्पन्न लोगो के हृदय मे यह सस्कार जमा हुआ था और वे इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे कि मुफ्त में, बिना किसी तरह के प्रतिदान के दी गई सहायता लेने से गृहीता व्यक्ति के चरित्र का नैतिक पतन होता है। ये अन्दर ही अन्दर दुर्बल होने लगते हैं और वे अन्ततोगत्वा जीवन-यात्रा के लिये सर्वथा अक्षम तथा असमर्थ हो जाते हैं। अतः प्रश्न के दो रूप सामने आये :—

(१) जीविका-हीन व्यक्तियो को भूखों मरने दिया जाय ?

अथवा

(२) सहायता देकर उनके नैतिक चरित्र को भ्रष्ट कर दिया जाय ? यदि सहायता नही दी जाती है तो वे भूखों मरते हैं और यह कौन नही जानता कि, 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्' कौनसा अपराध है जो भूखा व्यक्ति नही कर सकता ? यदि

> सहायता दी जाती है तो उनकी नैतिक शक्ति का ह्रास होता है जो और भी अधिक भयंकर है।

अतः, बहुत ऊहापोह तथा सोचविचार के बाद निर्णय यही हुआ कि सहायता तो दी ही जाय। नहीं तो भूख समाज के अस्तित्व को ही खा जायगी। प्रत्येक जरूरतमन्द व्यक्ति को ५० रुपये मासिक सहायता का नियम बना दिया गया। परन्तु सहायता-प्राप्ति की शर्तें अधिक से अधिक कठोर, जटिल तथा अपमानजनक बनादी गईं ताकि लोगो मे कंगलेपन का अभ्यास न होने पावे, उनमे सहायता लेने का उत्साह न रह जाय और वे सहायता, भीख ही कहिये, के लिए बाँह तब तक न फैलायें जब तक वह अनिवार्य न हो जाय। एक बार तो यह भी सोचा गया कि सहायता लेने वाले व्यक्ति का नाम समाचार-पत्रो मे प्रकाशित किया जाय अथवा उन्हे वोट देने के साधारण नागरिक अधिकार से वचित किया जाय। मतलब यह कि बेकारी में अनुदान प्राप्ति की परिस्थितियो को अधिक से अधिक निषेधात्मक तथा उत्साहभजक बनाया गया ताकि लोगों की अपने पैरों पर खड़ी करने वाली शक्ति का ह्रास न हो। अनुदाता सम्पन्न व्यक्तियो की कल्पना यह थी कि अनुदान-गृहीता व्यक्ति इस सहायता के लिये और कुछ न सही तो कम से कम उनके कृतज्ञ तो अवश्य होंगे।

पर इस योजना के क्रियान्वित होने के कुछ दिनों के पश्चात् जो परिणाम सामने आये वे इतने भयंकर और निराशाजनक रहे, जिनकी कभी कल्पना भी नही हो सकती थी। समाज मे शान्ति की स्थापना तो क्या होगी अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। जिन व्यक्तियों को सहायता दी जाती थी वे शान्त तो क्या होगे भरो पिस्तौल बन गये, जरा से झटके पर समाज की छाती पर छूटने के लिये तैयार ! उनसे कृतज्ञता की आशा की जाती थी पर वे हो गये कृतघ्न। जब कभी अनुदान देने के पहले जांच करने वाले निरीक्षक उनके घर की छोटी-छोटी बातों की पूछ-ताछ करने लगते, तो यह बात उन्हे बहुत अखरती थी। वे समझते थे कि ये सम्पन्न व्यक्ति उनकी विपन्नता की हंसी उड़ा रहे है। ताजमहल पर की गई एक कविता की याद आ रही है —

> किसी सरमायेदार ने दौलत का सहारा लेकर,
> हम गरीबों की मुफलिसी का उड़ाया है मजाक।

यह कविता इन अनुदान-गृहीता व्यक्तियो की मानसिक स्थिति का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

अब जरा ध्यान से इस बात पर विचार कीजिये कि बेकारो तथा गरीबो को सहायता के नाम पर देने वाले अनुदान के कारण कौनसी दूषित तथा विकृत परम्परा प्रारम्भ हुई। मान लीजिये कि इन सहायतोपजीवी व्यक्तियों मे से कोई किसी दिन भूले-भटके सिनेमा देखने चला गया। उन्हे ऐसा लगता था-सम्भव है यह सही भी हो- कि उनके परिचित मित्र जो जरा उनसे अधिक सौभाग्यशाली इस अर्थ मे थे कि वे बेकार नही थे उनकी ओर आखें फाड-फाड़ कर देखते हैं और कह रहे है कि हम छाती फाड़ कर परिश्रम करें और टैक्स दें ताकि तुम्हारे जैसे आवारागर्द मजे मे बैठे सिनेमा का आनन्द लूटा करें। ऐसे-ऐसे काल्पनिक अथवा वास्तविक दुर्व्यवहार के कारण इन लोगो के अन्दर और भी कटुता उत्पन्न होती गई। कुछ लोग बैठे-बैठे अपने भाग्य को कोसने के सिवा और कुछ भी नही करते। कुछ ने तो ऊब कर आत्महत्या करली। कुछ लोग अपनी पत्नी और बच्चो से आंख भी नही मिला पाते क्योंकि वे इसी भावना से दबे रहते कि वे उनके जीवन के लिये आवश्यक साधन भी नही जुटा पाते। सब लोगो से मित्रता के सूत्र छिन्न-भिन्न हो गये, सबसे मिलना-जुलना कठिन होगया क्योंकि उनमे हीनता-ग्रन्थि के कारण सर उठा कर चलने का साहस ही नही रह गया था। उनकी पत्नियो का भी समाज में निरादर होने लगा। उनकी सन्तानें स्कूल मे अप-मान की दृष्टि से देखी जाने लगी। उन्हे भी हीन-भावना ने ग्रस्त कर लिया। स्कूल मे तो वे पीछे पडने ही लगे आगे चलकर उनके विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होगया। कुछ आदाताओ ने इस भिखमंगी के जीवन के अपमान से तंग आकर किसी भी कीमत पर कोई सम्मानपूर्ण जीविका की खोज में प्राण त्याग दिये। किसी ने इस धिक्कृत जीवन से डाका डालना श्रेयस्कर समझा और समाज मे चोरी और डकैती के अपराधों में वृद्धि होगई। अत:, यह सहायताकार्य जो सेवा के भाव से प्रेरित होकर समाज मे शातिस्थापना के लिये प्रारम्भ किया गया था अनेक अनर्थों का जनक होगया। दवा रोग से भी भयंकर निकली। सो भी एक महज शाब्दिक भूल के कारण। वह भूल क्या थी अभी पता चलेगा जब हम यह देखेंगे कि दूसरे स्थान वाले इस सहायता-कार्य का श्रीगणेश कर किस तरह अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए।

आर्थिक मँदी वाले दूसरे क्षेत्र के व्यक्तियो ने भी इस बेकारी की समस्या को आर्थिक सहायता के द्वारा ही हल किया। वास्तव मे इसके सिवा समस्या को सुलझाने के लिये दूसरा उपाय हो ही नही सकता था। परन्तु उस क्षेत्र के अनुभव वृद्धों में एक बहुत ही चतुर व्यक्ति था जो मानव की मनोवैज्ञानिक

प्रक्रिया को समझता था। वह जानता था कि आज का मानव वास्तविक मूल्यों को भले ही पहचानता न हो पर प्रतीकों के महत्व को खूब पहचानता है। आप उसको कागज का एक छोटा टुकड़ा दे दीजिये और उसे यह मान लेने में कोई सकोच न होगा कि यह एक लाख रुपया है। अतः, उन्होंने दान देनेवालों को समझाया कि लोगो पर दया करके दान भले ही दिया जाय पर उसे कृपा या अनुदान न कह कर उसे किसी सुन्दर तथा भव्य नाम से अभिहित किया जाय। अतः, उनके सामने ऐसी भाषा बोली जाय जिससे वे परिचित भी हो और जिसके साथ अच्छे भाव भी जुड़े हो। आज मानव जीवन-बीमा के नाम से खूब परिचित है। यह आज की साधारण सी प्रथा होगई है कि लोग समय–समय पर कुछ रुपयों की किश्त जमा करते रहते हैं ताकि दुर्घटना होने पर, आग लग जाने पर, पानी में डूब जाने पर, विवाह इत्यादि किसी भी जरूरत के अवसर पर रुपये आसानी से मिल जाय। दुर्घटना के अवसर पर बीमा कम्पनी से रूपये मिलते हैं पर उनपर हमारा अधिकार है, इन्हे हमने समय २ पर ऐसे ही अवसर के लिये पेट काटकर एकत्र किया है। किसी ने कृपा कर दान या भीख के रूप में नही दिया है। इसी बात को ध्यान मे रख कर उसने इस सहायता वाले प्रश्न को एक दूसरे ही ढंग से लोगों के सामने उपस्थित किया। उसने लोगों को समझाया कि जिस तरह लाख प्रयत्नों के बावजूद भी कभी-कभी रोग उत्पन्न हो ही जाते हैं, दुर्घटनायें घट ही जाती हैं, आग लग ही जाती है, बाढ़ आ ही जाती है। उसी तरह आज के युग मे दुर्निवार कारणों से कभी-कभी बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाना कोई असाधारण बात नहीं जिसके लिये हम लज्जित हों। आज यह क्षेत्र समृद्ध है। यहां सुन्दर कलात्मक भवन वर्तमान है, उद्यानों की शोभा दर्शनीय है, वह सब लोगो के सम्मिलित प्रयत्नो के परिणाम स्वरूप ही उपलब्ध है। इस उपलब्धि में आज के बेरोजगार कहे जाने वाले व्यक्तियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। आज जैसे ही दुर्दिन मे काम आने के लिये ही तो इन लोगों ने अपने परिश्रम की किश्तें जमा कर इस क्षेत्र को ऐसा बना दिया है कि वह समृद्धि से जगमगा रहा है। अतः, आज के बेरोजगारी के शिकार व्यक्ति एक तरह Policy holder हैं और जिसे सहायता कहा जाता है वह उनका Insurance claim है जो समय पाकर परिपक्व होकर दावे के रूप में उन्हें प्राप्त हो रहा है। यह एक सीधा व्यापारिक मामला है। इसमे न तो कोई किसी पर कृपा करता है न कोई कृपा-भाजन ही है। यह महज सौदेबाजी है, इस हाथ दे उस हाथ ले। हमने जिसे एक बार दिया है, वापस ले रहे हैं तो

संकोच कैसा ? बस, लोगो की समझ मे बात आगई। बस क्या था ? एकबार सिद्धान्त के तय होजाने पर तफसील मे जाकर ब्योरे की बातों के तय करने मे कोई कठिनाई नही रही। यही तक नही। यह निर्णय किया गया कि कार्य का अर्थात् बीमे की किश्त की अदायगी का अर्थात् आदाताओं को दान देने का प्रारम्भ बडे धूमधाम से किया जाय। एक समारोह किया जाय जिसका उद्घाटन राज्यपाल के करकमलो के द्वारा हो और उसमे जरूरतमन्द लोगों को प्रथम किश्त का पुरस्कार वितरण किया जाय। उनका तथा उनके परिवार का फोटो लिया जाय और समाचार के मुखपृष्ठों पर उसे प्रकाशित किया जाय। तुमुल हर्षध्वनि के बीच कार्यक्रम समाप्त हुआ।

जहा प्रथम क्षेत्र के आदाताओं के हृदय में हीन भावना के उद्रेक ने उनकी नैतिक शिराओ को दुर्वल बना उन्हे पतन के गह्वर मे पटक दिया, समाज मे अराजकता के दृश्य उपस्थित कर दिये वहां उसी सहायता से दूसरे क्षेत्र के आदाताओ मे आत्मविश्वास तथा गौरव के भाव जगे। अपने आर्थिक सकट को साहस तथा धैर्य के साथ झेलने की शक्ति अन्दर से उत्पन्न हुई क्योकि उन्हे इस विश्वास ने थाम रखा था कि वे अकेले नही पूरा समाज उनके साथ है। वेकारी से ग्रस्त लोगों के बच्चो के लिये स्कूल के अन्य बच्चों के हृदय में आदर के भाव जागृत हुए क्योंकि राज्यपाल ने उनके साथ हाथ मिलाया था जो पत्रो मे प्रकाशित हुआ था। इस क्षेत्र मे न तो आत्महत्यायें ही हुईं, न अपराधों की संख्या मे अभिवृद्धि हुई, न लोगो का मानसिक सतुलन ही नष्ट हुआ और न किसी तरह की उच्छृंखलता ही उत्पन्न हुई।

यह चमत्कार क्यों कर समव हो सका ? इसीलिये कि प्रथम क्षेत्र के लोगों ने अपने व्यापारो के लिये समुचित शब्दो का प्रयोग नही किया था। वे "उल्लेख-लीला-घटना-पटु" नही थे। दूसरे क्षेत्र के लोगो मे इस तरह की पटुता थी। इस दृष्टान्त कथा को पढ़कर कौन कह सकता है कि कविता शब्द रूप नही है, भावरूप है। यदि कविता मतलब अभीष्ट प्रभावोत्पादन सामर्थ्य वास्तविक भावों में निवास करती तो यह चमत्कार कैसे उत्पन्न होता ? दोनों क्षेत्रो के नेताओं के भाव तो एक ही थे, दोनों का कार्यक्रम भी एक ही था। अन्तर इतना ही था कि एक ने अपने भावो की अभिव्यक्ति के लिये समुचित शब्दों का प्रयोग किया। दूसरे इससे वंचित रहे। शायद यह क्षमता उनमे नही थी। मैं तो यहां तक कहूंगा कि सफल क्षेत्र के नेताओ ने शब्दों का प्रयोग नही किया केवल समुचित ध्वनि की, ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया की। क्योंकि शब्दों का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से भावो तथा अर्थों से जुड़ा हुआ समझा जाता है।

आपके सामने एक दृष्टान्त कथा के द्वारा अपने मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। अब एक वाक्य लीजिये और शब्दों के चमत्कार को देखिये। जिस समय विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध चल रहा था उस समय इस तरह के वाक्य खूब देखने या सुनने को मिलते थे। French army in rapid retreat (फ्रास की सेनाओं मे भगदड़ मचगई) यह कितना निराशाजनक संवाद है। पर इसी को इस ढंग से कहे। The retirement of the French forces to previously prepared position in the rear was accomplished briskly & efficiently (पृष्ठ भाग मे पूर्व निर्धारित स्थान पर फ्रेंच सेनायें तेजी से चुस्त दुरुस्त पहुंच गई) केवल समुचित ध्वनि तथा कोलाहल के कारण ही कितना अन्तर आगया ?

जिस समय अफ्रीका में बोअर युद्ध चल रहा था तब बोअरों की युद्ध-नीति तथा रणकौशल से अंग्रेजी सेना बड़ी त्रस्त होगई थी। वे पहाडी प्रदेशों के कोने कोने से परिचित थे और झाड़ियों तथा कन्दराओं की ओट मे छिपकर इस तरह वार करते थे कि किसी को कुछ पता नही चलता था। अतः, इस कायरता के लिये ब्रिटिश प्रेसों में उनकी बड़ी भर्त्सना की जाती थी। (Sneaking & skulking behind rocks & bushes) परन्तु आगे चल कर अंग्रेजी सैनिको को भी उस कौशल का ज्ञान होगया और वे उसी से काम लेने लगे। तब कहा जाने लगा कि अंग्रेजी सेना Is Cleverly taking advantage of the cover अर्थात् इस स्थिति का चतुरता से लाभ उठा रही है।

अतः, कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है।

(१) कि हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं क्या वे हमारे हृदय के भावों या विचारों के परिणाम हैं अर्थात् पहले हमारे हृदय में भाव या विचार उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् हम उन्हें उपयुक्त शब्दों में बांध कर प्रकट करते हैं ?

(२) अथवा जिस भाषा को हम जानते हैं वही हमारे विचार को भी नियन्त्रित कर रही हैं ? अर्थात् हम जिस भाषा को जानते बूझते हैं उसका हमे ज्ञान न होता और हम दूसरी भाषा जानते होते जिसका व्याकरण, वाक्यविन्यास इत्यादि की प्रणाली दूसरे ढंग की होती तो क्या हमारे विचार भी दूसरे ढंग के होते ? आज विश्व मे जो संघर्ष है, भिन्न-भिन्न विचारपद्धतिया हैं क्या वे इसीलिये हैं कि लोग भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं ? यदि

भाषा एक हो जाय तो क्या "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाला स्वप्न साकार हो कर रहे ? यदि यह बात ठीक है तो कौरवपाण्डवों के बीच मचे घोर महाभारत की संगति कैसे बैठाई जा सकती है ? कौरवपाण्डव तो भाई-भाई थे। एक ही भाषा बोलते थे तो फिर यह विभेद कैसे सम्भव हो सका ?

जो हो, इतना अवश्य है कि शब्दों के कोलाहल का महत्व आज बहुत ही बढ़ गया है। आज दिनरात रेडियो बजते रहते हैं, गली कूचों में कोई प्रोग्राम चलता रहता है, किसी का भाषण प्रसारित हो रहा है, उद्बोधक गीत सुनाये जा रहे है, लाउड स्पीकर कड़क रहे हैं, बोलते चित्रपट पूर्णरूप से अहर्निश सक्रिय हैं, आज हमारा जीवन शब्दों की प्रभविष्णुता के प्रति जितना खुला है उतना कभी नही था। शब्दो के प्रपात की ध्वनि आज हमें जिस तरह प्रभावित कर रही हैं वह इतिहास के लिये अभूतपूर्व है। हिटलर को अपने युद्ध मे जो आश्चर्यजनक सफलता मिली थी उसका श्रेय अस्त्रशस्त्रों को उतना नही था जितना रेडियो तथा डा० गोबल्स के शाब्दिक प्रचार को था। अतः, आज मोर्चे पर गोली दागने के पूर्व रेडियो पर तथा समाचारपत्रों मे शब्दों के गोले गड़गडाने लगते हैं।

व्यावहारिक स्तर पर यह तो हो ही रहा है और कुछ उच्चस्तरीय प्रतिभावान व्यक्ति शब्दब्रह्म के महत्व को समझने भी लगे हैं। पर साधारणतः लोग अभी तक यही समझते हैं कि मुख्य वस्तु है भाव अथवा विचार। यदि ये हैं तो शब्द मिल ही जायेंगे। एक ही भाव को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली समाज को सत्यानाश मे मिला सकती है, पर दूसरी शब्दावली समृद्धि का द्वारा उद्घाटित कर सकती है। किसी ऐतिहासिक साहचर्य में लिपटा हुआ शब्दप्रयोग दो व्यक्तियो में साधारण शिष्टाचार भी कठिन बना देता है पर उसको हटाते ही उसी अर्थ का द्योतक दूसरा शब्द दो हृदयो को जोड़ देता है। दो भिन्न व्याकरण वाले वाक्यसंगठन, रूपविन्यास के बोलने वालों की विचारधारा भी एक नहीं हो सकती। इस बात की ओर लोगो का ध्यान कम गया था। पर अब यह सोचा जाने लगा है कि मानसिक स्पन्दन के शब्दीकरण के सिवा विचार है ही क्या ?

साहित्य में अहिंसात्मक अभिव्यक्ति

पूर्व वक्ताओं ने विषय को जिस रूप में लिया है और जो कुछ समझा है उस दृष्टिकोण से बहुत ही सारगर्भित बातें कही हैं और उनसे समस्या के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ा है। दा साहब ने अपने अहिंसासम्बन्धी विचारो की अभिव्यक्ति करते हुए जिन स्वजीवनानुभूत संदर्भो की चर्चा की उसके चलते वक्तव्य मे सजीव प्रामाणिकता का जीवनाधार भी मिल गया। पर जब मैंने इस विषय की शब्दावली को पढ़ा तो मेरे हृदय मे एक दूसरी ही तरह की प्रतिक्रिया हुई। उसी का उल्लेख करते हुए मैं अपने हृदयगत विचारों को आप मनीषियो के "विचारशाणोत्पलपट्टिका" पर रगड़ कर देखे जाने के लिये प्रस्तुत करूंगा। कवि ने कहा ही है—

उल्लेखलीलाघटनापटूनां, सचेतसां वैकटिकोपमानाम्,
विचारशाणोत्पलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथी भवन्तु।

वक्ताओं ने जो वक्तव्य दिये हैं उनसे पता चलता है कि उन्होंने अहिंसात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ लिया है अहिंसा की अभिव्यक्ति और इसी सूत्र के सहारे अपनी विचारावली का निर्ग्रंथन किया है। परन्तु विषय अहिंसा की अभिव्यक्ति नही है। विषय है अहिंसात्मक अभिव्यक्ति और दोनों को एक समझ लेने से, दोनो को समानार्थक या पर्यायवाची समझ लेने से एक विचित्र भ्रम की सृष्टि हो जाती है। दोनो वाक्यांशो के अर्थ में आकाश पाताल का अन्तर है। संस्कृत के वैय्याकरणों तथा मीमांसकों में दो वाक्यांशों के अर्थ को लेकर बड़ा ही विवाद रहा है। राजपुत्रः तथा राज्ञः पुत्रः। कृष्णः सर्पः तथा कृष्णसर्पः गगायां घोषः तथा गंगातटे घोषः। प्रश्न यह था कि राजपुत्रः तथा राज्ञः पुत्रः दोनों का मन्तव्य एक ही है? अथवा दोनों दो मन्तव्यो को अभिव्यक्त करते हैं? यदि दोनो का अर्थ एक ही है तो एक मात्रा के लाघव को भी पुत्रजन्मोत्सव मानने वाले वैयाकरण 'गौरवदोष' से अपने को लांछित क्यों करने लगे? अन्त में अनेक तर्क वितर्क के बाद यही निष्कर्ष निकला कि दोनों का अर्थ एक नही है, दोनों दो तरह की भाववृत्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। जब हम 'राजपुत्रः' कहते हैं तो हमारा ध्येय होता है 'पुत्र' को महत्व देना राजा को नहीं। राजपुत्रः मे तत्पुरुष समास है जो उत्तरपदप्रधान होता है। 'राज्ञः पुत्रः' में 'राजा' की

प्रधानता है। पुत्र मे जो कुछ भी गौरव है वह राजा के पुत्र होने के कारण है उसका अपना कोई महत्व नही। राजपुत्रः मे 'पुत्र' स्वयमेव गौरववान है, वह स्वतन्त्र है। हां, किसी का पुत्र उसे होना ही है, चलो राजा का ही सही। जब वर विवाहयात्रा के लिये प्रस्थान करता है तो उसके साथ वयोवृद्ध पिता, पितामह इत्यादि पूज्य सम्बन्धी भी चलते हैं पर फिर भी प्रधानता वर को ही है भले ही वह लघु-वयस्क हो।

उसी तरह अहिंसा की अभिव्यक्ति मे अहिंसा की प्रधानता हो जाती है मानो अहिंसा कोई वस्तु हो, विषय हो और उसी की अभिव्यक्ति के लिये साहित्य की सेवा मे, नियोजित की गयी हो। यदि यह बात है तो, मैं कहूंगा कि साहित्य की परिधि को संकुचित कर देना है, एक बहुत बड़ी व्यापक वस्तु को सीमित कर देना है, एक विशाल पर्वत को अवनत कर देना है। साहित्य किसी चीज की अभिव्यक्ति नही है, शुद्ध अभिव्यक्ति है, इस बात को न जाने कब लोग हृदयगम करेंगे। विज्ञान ने सारे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से उसे निकाल दिया है, १९ वीं शताब्दी से यही निष्कासन क्रिया चल रही है और आज वह करीब-करीब पूर्ण हो चुकी है। कवि को मतलब साहित्यिक को स्वस्थ चित्त से स्वीकार कर लेना चाहिये कि किसी वस्तु से हमारा सम्बन्ध नहीं, हम किसी वस्तु के बारे मे कोई भरोसे की बात नही कर सकते, उसकी सत्यता का विश्वास नही दिला सकते। हम केवल अभिव्यक्ति के लिये उत्तरदायी है। हां, कोई वस्तु आ जाती है तो उसका महत्व एक महज उत्तेजना प्रदान करने से अधिक नही होता। अतः यहां पर भी उद्देश्य अहिंसात्मक अभिव्यक्ति से ही है, अहिंसा की अभिव्यक्ति से नही। मैं तो आगे बढ़कर कहूं केवल अभिव्यक्ति। अहिंसात्मक भी नही। क्योंकि अभिव्यक्ति अखंड है, उसका जो रूप है वही सच्चा रूप है, दूसरा नही। अभिव्यक्ति जब होगी और विशेषतः साहित्य में तो वह अहिंसात्मक होगी। अतः, यद्यपि यह विशेषण सब विशेषणों की तरह विशेष्य की सीमा का नियन्त्रण तो कर देता है पर फिर भी मुझे अभि-व्यक्ति के साथ उसे रहने देने मे आपत्ति नहीं है।

इसमे दूसरा शब्द है साहित्य। साहित्य का क्या अभिप्राय है? प्रायः साहित्य का अभिप्राय वाङ्मय से लिया जाता है अर्थात् जो कुछ भी लिखा गया वह साहित्य है। पर यह भी ठीक नही। इस तरह तो साहित्य की सीमा में सस्ती पत्र-कारिता, विज्ञापन-बाजी, राजनैतिक निर्वाचन के अवसर पर प्रसारित किये गये पर्चे इत्यादि सब ही मे आ जायेंगे और

निश्चय ही वे साहित्य नहीं है। यह हमारी प्रज्ञा समझती है, भले ही हम साहित्य की नपी-तुली परिभाषा नहीं दे सकें। अतः यहां पर हमें इस शब्द के अर्थ-विस्तार को थोड़ा संकुचित करना होगा। एक ओर तो हमने अभिव्यक्ति को उन्मुक्त कर दिया, उसको किसी वस्तु की खूंट से तोडकर स्वतन्त्र कर दिया, उसकी परतन्त्रता दूर करदी, दूसरी ओर साहित्य की सीमा को थोडा संकुचित कर दिया। अतः जोड़—और घटाव से समीकरण एक तरह से बना रहा। जब हम 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अर्थ होता है शक्ति का साहित्य, (Literature of power) ज्ञान का साहित्य (Literature of knowledge) नही। शक्ति के साहित्य से ज्ञानदान नहीं होता, उसे हम अपनी ज्ञान-वृद्धि के लिये नही पढ़ते, वह आत्म-दान है, उसे हम आनन्द प्राप्ति के लिये, उच्छ्वसित होने के लिये पढ़ते हैं। राजनीति, समाज-शास्त्र, इतिहास इत्यादि पर लिखे गये ग्रंथ ज्ञान के साहित्य मे आयेंगे पर कविता, कहानी, उपन्यास, गद्य-काव्य इत्यादि शक्ति के साहित्य में आयेंगे। जब तक हममें मानवता का जरा भी अंश शेप रहेगा, जब तक मानव के हृदय मे धड़कन रहेगी और उसमें दूसरे हृदय की धड़कन से मिल जाने की बेताबी रहेगी और जब तक वह इसके अभाव मे थोड़ी बेचैनी अनुभव करेगा तब तक इस तरह के शक्ति-साहित्य की उपयोगिता बनी रहेगी।

अतः, हमने दो बातें तय की। प्रथमतः, साहित्य का अर्थ तय किया। द्वितीयतः अभिव्यक्ति को प्रधानता दी और निश्चित किया कि हमारा ध्येय अहिंसात्मक अभिव्यक्ति है, अहिंसा की अभिव्यक्ति नही। हम कोमल से-कोमल, मर्म-स्पर्शी से मर्मस्पर्शी भावों को ले सकते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति हिंसात्मक हो सकती है। ऐसी हो सकती है कि पाठक के हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो और वह अन्दर से प्रक्षुब्ध हो उठे। इतना ही नही। यह भी सम्भव है कि जिस तरह के भाव को पाठक पर उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है उसके ठीक विपरीत भाव उत्पन्न हो। मैंने ऐसी रचनाएं भी पढ़ी हैं, ऐसे भाषण भी सुने हैं जिनका उद्देश्य है पाठक तथा श्रोतामें उच्च भाव उत्पन्न करना, उदाहरणार्थ कामिनी और कंचन की आसक्ति से दूर रखना पर अभिव्यक्ति मे कुछ ऐसी त्वरा होती है, वह ऐसी लजीज और अजीज हो जाती है कि आसक्ति दूर तो क्या होगी वह और बढ़ने लगती है। हिन्दी में उग्र जी का साहित्य इसका उदाहरण है। उग्रजी की पुस्तकें 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', का थीम कोई बुरा नहीं, सबमे नवयुवकों की चरित्रभ्रष्टता

को दूर करके उनके पवित्राचरण की ही वकालत की गई है। पर उनकी शैली में कुछ ऐसी उग्रता है कि वह अपने आधार पर ही कुठाराघात करने लगती है, जिस चीज का विरोध करना चाहती है उसी के प्रति आसक्ति, आकर्षण उत्पन्न करने लगती है।

दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि कवि या कथाकार युद्ध पर या किसी अन्य दुर्धर्ष विषय पर रचना कर रहा है पर फिर भी उसकी अभिव्यक्ति इतनी सौम्य हो, संतुलित हो कि उसे पढ़कर या सुनकर हृदय में शांति के ही भाव उत्पन्न हों। गांधी जी कहा करते थे कि यदि अहिंसा-दर्शन एक व्यापक दर्शन है तो उसमें—युद्धों को भी सम्भालने की शक्ति होनी चाहिये। उसी तरह कहा जा सकता है कि अहिंसा साहित्य को भी सम्भाल सकती है। 'जय वर्द्धन' नामक उपन्यास का एक पात्र कहता है—"मैं मान नहीं सकता कि आंधी का चित्र शान्त नहीं हो सकता है साहित्य में या दर्शन मे युद्ध और विग्रह हो, पर साहित्य दर्शन को स्वयं कभी विग्रहात्मक होने को नहीं कहा जा सकता। जिन्दगी जो दीखती है वही तक वर्णन का लाभ नहीं है। उसको एक 'भूमिका' एक 'परिपार्श्व' देकर प्रस्तुत करना पडता है। वही साहित्य-दर्शन की विशिष्टता है। कुरुक्षेत्र मे सहस्र लक्ष व्यक्ति मारे गये। लेकिन इस आख्यान पर रचे गये महापुराण ने इतिहास को और संस्कृति को और धर्म को जीवित रखा। "वह युद्ध को भी, हिंसा को भी, हत्या को भी, भ्रष्टाचार को भी इस तरह वर्णित कर सकती है, इस तरह अभिव्यक्ति दे सकती है कि वह भी—साहित्य हो जाय, 'सहस्य भाव' को जागृत करने लगे। और वास्तव में देखा जाय तो साहित्य यही करता भी आया है। वहा श्रृंगार रस है, तो करुण रस भी है, वीभत्स भी है, वीर भी है, हास्य भी है। सभी का मूल भिन्न-भिन्न है पर सभी साहित्य मे आकर रस ही हो गये हैं। सब पारस्परिक भेद-भाव को भूलकर एक साथ बैठे हैं। साहित्य को 'दीरघदाघनिदाघ' ने जगत को तपोवन बना दिया जहा कहिलाने में अहि, मयूर, मृग, बाघ एकत्र रहने लगे हैं। यही काम साहित्य करता आ रहा है और आज भी उसे यही करना चाहिये।

जब से लोगों के बीच वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ और व्यक्ति पर भी यान्त्रिक दृष्टि से विचार करने की प्रवृत्ति जगी तब से यह सोचा जाने लगा कि जिस तरह का वर्ण्य विषय होगा उसी तरह की प्रतिक्रिया पाठक में भी जगेगी। अमुक भांति का विषय, अमुक भांति की प्रतिक्रिया। तुलसी ने

भक्तिपरक कविता की, पाठक में भक्ति के भाव जगें, सूर के विरहकाव्य को पढकर विरह के भाव जगे; भूषण ने वीरत्व के गीत गाये, पाठक में–वीरत्व के भाव जगे।

पर क्या यह सही है? मानव इतना सीधासादा प्राणी है? वह इतने ही सीधे तथा सस्ते ढंग से प्रतिक्रिया करता है? व्यावहारिक जगत तथा उसी की परिधि मे विचरण करने वाले साधारण मनुष्य के लिये यह सम्भव मान भी लिया जाय तो क्या यह साहित्य-क्षेत्र तथा उसकी सीमा में प्रवेश करने वाले पाठक के लिये भी इसी मापदण्ड से काम लेना होगा? यदि यह बात सही मान ली जाय तो त्रासदी की समस्या कैसे हल हो, लोग दुःखान्त नाटकों से आनन्द कैसे ग्रहण कर सकेंगे? वह करुणा जो भवभूति से अधिक मूल्य नही रखती उसके 'उत्तर विश्व की विभूति' कैसे बन जाती? वास्तव में यदि यही सब इतने सस्ते ढंग से होता तो अरस्तू को विरेचन सिद्धान्त की तथा भट्ट नायक को साधारणीकरण सिद्धान्त की स्थापना ही क्यो करनी पड़ती? प्लेटो तो अपने आदर्श गण-तन्त्र से कवियो को निष्कासित कर ही चुके थे।

अतः, हो न हो, काव्य का संसार एक अलग ही संसार है, वहां की दुनियां ही निराली है, वहां के विधान तथा नियम ही भिन्न हैं। शायद इसी को देखकर हमारे काव्य शास्त्री ने कहा होगा —

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि
　　वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव : दोषः
　　सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम्।

प्रकृत संसार में भी हिंसा नही चल सकती पर वहां वह कुछ अवधि तक चल भी जाय पर काव्यजगत में तो वह एक क्षण भी चलने से रही। प्रकृति ने राम को पैदा किया पर वही उसे खा भी गई। नही खा कहां गई, खाने जा रही थी कि कवि ने उसे फौलादी तथा रक्तात्त पंजों तथा दाढ (Red in tooth and claws) से छीन कर अपनी शान्तिप्रद कल्याणप्रद अहिंसा तथा प्रीति की गोद मे लिया कि आज राम स्वय तो अमर ही हो गये दूसरों को भी अमरत्व प्रदान कर रहे हैं। यही कारण था कि साहित्य-शास्त्रियों के सामने जब काव्य के स्वरूप पर विचार करने का प्रश्न आया तो

उन्होंने देखा कि काव्य-जगत तथा प्राकृतिक-जगत में तो एक बात सामान्य रूप से मिलती है। दोनों कुछ न कुछ वक्तव्य देते हैं, कोई बात कहते हैं, कोई उपदेश देते हैं पर दोनों मे एक अन्तर भी स्पष्ट है। वास्तविक जगत में उपदेश प्रभुसम्मित हो, सुहृत् सम्मित होता है पर काव्य में 'कान्तासम्मितत्व' की ही प्रधानता है (कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) और मैं पूछता हूं कि यह जो कान्ता-सम्मितत्व है वह अहिंसात्मक अभिव्यक्ति के सिवा और क्या है ?

यहां पर अहिंसात्मक अभिव्यक्ति से मेरा क्या अभिप्राय, है ? मेरा क्या तात्पर्य है ? और वह साधारण अभिव्यक्ति से क्योंकर श्रेष्ठ है ? इस बात को स्पष्ट करने के लिये मुझे जरा कवि बनने दीजिये; कल्पना से काम लेने दीजिये, और एक उत्पाद्य कथा-वस्तु के आश्रय मे जाने दीजिये। दो प्रांत थे, दोनो स्थानो में आर्थिक मन्दी के कारण वेरोजगारी छा गई। यो सामग्री की तो कमी नहीं थी पर अर्थाभाव मे लोगो की क्रय-शक्ति ही नष्ट हो गई। आर्थिक सहायता तो दी जा सकती है पर दान पर निर्भर करने से ग्रहीता के अन्दर जो एक प्रकार की नैतिक दुर्बलता आने लगती है, चारित्रिक पतन होने लगता है उसका क्या होगा ? अतः निर्णय यही हुआ कि आर्थिक वृत्ति तो दी ही जाय, इसके सिवा दूसरा कोई चारा ही नही है पर वृत्ति प्राप्त करने की शर्तें ऐसी कड़ी कर दी जायं कि लोगों को उसके लिये उत्साह न रहे। कल्पना यह की जाती थी कि इस व्यवस्था से वृत्ति-भोजी व्यक्ति, और कुछ न सही पर कम से कम आपत्तिकालीन सहायता के लिये, कृतज्ञ तो अवश्य ही होंगे। पर परिणाम जो सामने आया वह अति भयंकर था। जब कभी जांच करने वाले निरीक्षक उनके यहां जाकर छोटी-छोटी बातों के लिये पूछताछ करते तो वे उखड़ने लगते और वे समझते कि उनकी विपन्नता का उपहास किया जा रहा है। यदि कोई वृत्तिभोजी व्यक्ति सिनेमा देखने चला गया तो उसे लगता कि लोग कह रहे हैं कि इस भिखमंगे की हिमाकत देखो, घर में भूंजी भांग नही और चला है सिनेमा देखने। उन्हें लगता कि उनकी भिखमंगी पर उनकी पत्नियां, बच्चे आत्मग्लानि से गले जा रहे हैं। उनमे साहस नही रह गया कि वे समाज के अन्य सदस्यों से आंखें मिला सकें। कुछ ने तो आत्महत्या कर ली। कुछ ने इस धिक्कृत जीवन से चोरी करना और डाका डालना ही श्रेयस्कर समझा। दवा रोग से भी भयंकर निकली।

दूसरे प्रान्त मे भी वृत्तिदान के द्वारा ही समस्या हल की गई पर वहां पर इसे दान न कहकर 'दावा' कहा गया। प्रायः समझा यही जाता है कि

मनुष्य भावों से प्रभावित होता है। "भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय।' पर अब यह बात समझ मे आने लगी है कि भाषा (अभिव्यक्ति) अनूठी (अहिंसात्मक) चाहिये भाव कोऊ होय।' प्रभ-विष्णुता भाषा, अभिव्यक्ति में रहती है, भाव मे नही। वह भाषा-परक है भाव-परक नही। कहा गया है कि हम Risk cover करने के लिये बीमा कराते ही हैं, थोड़ी-थोड़ी अर्थराशि किश्तो के रूप मे जमा करते हैं। जब पालिसी परिपक्व हो जाती है, हमें रकम मिल जाती है। वह तो दान नहीं, हम उसके दावेदार हैं। आज जो समाज मे समृद्धि है उसको बनाने में सभी ने थोडी-थोड़ी किश्त जमा की है। वह ऐसे ही अवसरों के लिये तो किया गया था। आज अर्थसंकटरूपी दुर्घटना के कारण वह पालिसी मेच्योर हो गई है और रुपये प्राप्त हो रहे हैं तो यह उचित ही है। यह सीधा-सादा व्यापारिक मामला है, इस हाथ दे, उस हाथ ले। अतः किश्त की अदायगी अर्थात् वृत्ति दान का प्रारम्भ बड़े धूम-धाम से किया गया। इस समारोह का उद्घाटन राष्ट्रपति के करकमलों द्वारा किया गया। फोटो लिया गया। वृत्तिप्राप्त व्यक्तियो का फोटो अखबारों मे छापा गया। जहां एक प्रान्त में इस दान के कारण अराजकता फैली वहां दूसरे में सुराज की स्थापना हुई। प्रश्न यह है कि यह जादू क्यों कर सम्भव हो सका ?

दूसरा उदाहरण लीजिये। जब विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध चल रहा था तो एक ही समाचार दो रूप में प्रकाशित किये जाते थे। French army in rapid retreat और इसको पढ़कर लोगों के हृदय मे निराशा के बादल छा जाते। इसी बात को यदि कहा जाता था The shifting of the French forces to the previously prepared position in the rear was accomplished briskly and efficiently. बस सारा वातावरण ही बदल जाता था।

इस उदाहरण को सामने रखकर विचार करने से कितने ही तथ्य उपलब्ध होते हैं (१) यदि उक्ति का उद्देश्य प्रभविष्णुता है, पाठकों की भावसत्ता पर अधिकार करना है तो साधारण व्यवहारगत भाषा प्रयोग से काम नहीं चलेगा। साथ ही शास्त्र इत्यादि मे प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्दार्थोपनिबन्ध भी पर्याप्त नही होगा। इसी को कुन्तक ने कहा वक्रोक्तिः काव्यस्य-जीवतम् और वक्रोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि, अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः। मतलब काव्य (साहित्य) का उद्देश्य सामान्य सूचनामात्र देना ही होता तो

शब्दों के सामान्य प्रयोग से काम निकल जाता पर साहित्य का उद्देश्य अलौकिक आल्हाद का उन्मीलन करना है। अतः उसकी अभिव्यक्ति मे विचित्रता, सम्पन्नता होगी।

अतः अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रभविष्णुता, लोकोत्तर-प्रदायकता का समावेश उक्ति मे किस तरह किया जाय कि वह साहित्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो जाय। दूसरे शब्दों में अभिव्यक्ति अहिंसात्मक किस तरह हो सके अर्थात् ऐसी हो जिसका अभीष्ट प्रभाव पड़ सके, न कम न अधिक। यदि कम प्रभाव पड़ा तो वह साहित्य नही और आवश्यकता से अधिक प्रभाव पड़ा तो भी वह साहित्य नहीं। प्रचार हो, वक्तृता हो, उद्बोधन हो और उसका अपना महत्व भी कम न हो पर वह साहित्य नही। कल्पना कीजिये कि किसी नाटक मे कोई नृशंस पात्र किसी निरीह बालक की हत्या कर रहा है। पाठक इतना आवेश मे आ गया कि स्टेज पर उसने जूते चला दिये। यह साहित्यिक प्रतिक्रिया नही। जो साहित्य पाठक को भाव से आगे बढ़कर क्रियातत्परत्व मे प्रवृत्त कर देता है वह साहित्य नही। साहित्य का काम 'वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता' ही उत्पन्न करना है उसको प्रतिक्रिया-तत्पर करना नही। साहित्य का काम पाठक के हृदय के काठिन्य को गला देना है। लोहे को लाल बनाकर उसमें नमनीयता ला देना है। लोहा लाल है प्रभाव ग्रहण करने की स्थिति मे है। अब शिल्पी आकर उसे यथेष्ट मोड़ दे सकते है ?

इस सम्बन्ध मे हम सब अपने व्यक्तिगत अनुभव से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। पर काव्यशास्त्रियो ने भी रसविवेचन के प्रसंग मे बहुत सी बातें कही हैं वे भी हमारे लिये प्रासंगिक महत्व रखती हैं। अभिनव के मतानुसार सर्वथा रसात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एवं रसः तत्रविघ्नापसारका विभावभृतयः। अर्थात् जब तक विघ्न दूर नही होते तब तक रस की प्रतीति नही होती। यो तो विघ्न तो अनेक हैं पर उन्होने सात विघ्नो का उल्लेख किया है—

१. प्रतिपत्तावयोग्यतासभावना विरहो नाम
२-३. स्वगतत्व-परगतत्व-नियमेन-देशकाल-विशेषावेशः
४. निज-सुखादि-विवशी भावः
५. प्रतीत्युपायवैकल्य स्फुटत्वाभावः
६. अप्रधानता
७. संशय-योगश्च

अर्थात् प्रतिपत्ति की अयोग्यता, अविश्वसनीयता २–३. काव्य में वर्णनीय वस्तु साधारणीकृत रूप में उपस्थित होनी चाहिये स्वगतत्व और परगतत्व से परे देशकालाबाधित होनी चाहिये । ४. जो व्यक्ति अपने सुख तथा दुःख के भावों से विवश हो, तत्काल किसी अनुकूल या प्रतिकूल वेदना से अभिभूत हो उसमे काव्यात्मक ढंग से प्रतिक्रिया करने की क्षमता नही होती । ५. प्रतीति के उपायो की अस्पष्टता नही होनी चाहिये । ६. कवि को एक बात कहने के लिये कितनी अन्य बातें कहने की आवश्यकता होती है । ऐसा नही होना चाहिये कि गौण बातें ही प्रधान हो जायं और प्रधान बात गौण हो जाय । ७. संशय भी नही होना चाहिये । उदाहरणार्थ आंसू शोक मे भी आते हैं और प्रेम मे भी । पर काव्य स्पष्ट होना चाहिये । ऐसा न हो कि शका होने लगे कि ये प्रेमाश्रु है या शोकाश्रु । उसी तरह अनेक व्यावहारिक बातें कही गईं । रसस्योक्तिः पुनः पुनः कह कर भवभूति के काव्य मे जो त्रुटि रह गई है उसका भी निर्देशन किया गया है । मतलब सदा औचित्य के निर्वाह पर जोर देते हुए कहा गया ।

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।

यह अनौचित्य और औचित्य वही है जिसे हम हिंसात्मक या अहिंसात्मक अभिव्यक्ति कहते हैं ।

यह तो हमारे काव्य-शास्त्रियों की बातें हुई । पर इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि केवल साहित्य मे ही इस अहिंसात्मक अभिव्यक्ति का ध्यान रखा जाता है । हम सभी अपने दैनिक जीवन मे भी इस बात का ध्यान रखते हैं भले ही यह बात इतनी सहज हो कि इस ओर हमारा ध्यान नही जाय । वास्तव मे यह मनुष्य के लिये श्वास प्रश्वास क्रिया की तरह सहज और स्वाभाविक है । इसी-अर्थ मे मनुष्य जन्मना कवि है ।

उदाहरण के लिये इसको ध्यानपूर्वक देखिये जब दो अपरिचित व्यक्ति आपस मे मिलते हैं । प्रश्न यह है कि यह जो अपरिचय की दीवाल जो उनके बीच खडी है वह कैसे टूटे और वे किस तरह समीप आयें ? इसकी अनुभूति कैसे हो । आचार्य कह ही गये हैं कि "वीतविघ्नाहि रस-प्रतीतिः" यह विघ्न कैसे दूर हो ? दोनो दो देश के प्राणी हैं, कभी मिले नही; आपस मे कोई एकता सूत्र नही जो उन्हे बाध सके । अब देखिये उनमे किस तरह बात प्रारभ होती है ।

"Nice day isn't it ? दिन बड़ा सुहावना है, है न ?

"It certainly is. हां, अवश्य (मिलन का प्रथम बिन्दु प्राप्त हुआ। आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त)

Altogether, it's been a fine summer.

(सब मिलाकर इस बार ग्रीष्म ऋतु बड़ी अच्छी रही)

"Indeed it has. We had a nice spring too"

(सही, है, इस बार बसंत ऋतु भी सुखद रही [दो मिलन बिन्दु प्राप्त हो ही गये है दूसरा व्यक्ति तृतीय मिलन बिन्दु पर सहमत होने का निमंत्रण दे रहा है।]

"हाँ, वसंत ऋतु भी सुखद थी (तीसरे बिन्दु पर सहमति प्राप्त) अब मैत्री का मार्ग प्रशस्त है जिस पर वे आगे बढ सकते हैं।

प्रश्न यह है कि अजनबीपन की, अपरिचय की ,पृथक्त्व की चट्टान कैसे टूटी ? दो लोक के प्राणी एक कैसे हुए ?

उत्तर है अहिंसात्मक अभिव्यक्ति। यहां अहिंसात्मक अभिव्यक्ति पर ध्यान दें। यदि यह नही हो तो सारे मैत्रीभाव के बावजूद भी वहां पर पारस्परिक सम्मेलन की घटना नही घट सकती। मिलनाकांक्षा अपनी सारी सद्भावना के बावजूद भी यों ही धरी रह जाती और वहां मैत्री तो क्या होती मारकाट की तैयारी होती। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति ने स्पष्ट शब्दों मे दूसरे के प्रति अपने मैत्री-भाव की घोषणा की। इसे सुनकर दूसरे के हृदय में तुरन्त शंका पैदा हो सकती है कि जरूर कुछ दाल मे काला है। यह व्यक्ति ठग है। इसकी दृष्टि मेरी थैली पर है और येन केन प्रकारेण वह मेरे विश्वास को प्राप्त कर मुझे अंत मे लूटना चाहता है। अंत मे आते-आते बात यहाँ तक बढ़ जा सकती है कि वहा पर साम्प्रदायिक दंगा हो जाय, पुलिस को गोली चलानी पड़े और कितने निरीह, व्यक्तियो की जान जाये। प्रश्न यह है कि घटनाओ ने यह विचित्र मोड क्यों लिया ? प्रारंभ तो मत्री के प्रदर्शन से ही हुआ था। एक ने दूसरे के प्रति प्रेम के ही भाव प्रकट किये थे। पर वहां पर यह दुखद दृश्य कैसे सामने आया ? उत्तर है हिंसात्मक अभिव्यक्ति। भाव तो मैत्री के ही थे, प्रेम के ही थे, बड़े सुन्दर भी थे पर वे जिस तरह अभिव्यक्त किये गये वह उग्र था, हिंसात्मक था, उसमें त्वरा थी और उसी मे ध्वंस के बीज छिपे थे। यहा है सद्भाव की हिंसात्मक अभिव्यक्ति चाहे तो आप इसे अनौचित्य कह सकते हैं।

हम जीवन मे पद-पद पर विशेषत: संकट के अवसर पर जबकि तत्काल क्रियातत्परत्व की आवश्यकता पड़ती है, एक क्षण का विलम्ब भी मृत्यु का कारण हो सकता है—हमे भाषा का पूर्वप्रतीतात्मक स्वरूप ही गाढ़े अवसर पर काम आता है। आप अकस्मात् बड़े वेग से दौड़ती हुई कार के सामने आ गये, या किसी सर्प की पीठ पर आपके पैर पड़ने ही वाले हैं। वहाँ पर भाषा के किस शब्द का उच्चारण किया गया इसका महत्व नही है। इसका महत्व नही कि कोई कहता है "वचो, वचो, या अपसर, अपसर, पलायध्वं, पलायध्व, look-out या और कुछ।" यहाँ पर शब्दो के अर्थ का कोई महत्व नहीं। भय के भाव, आवश्यक सतर्कता, सचेतनता की, सवेदना की सम्प्रेषणीयता या सार्थकता शब्दो के उच्चारण मे नही है, उनके tone मे है, ध्वनि मे है, इसमे है कि कितने जोर से उच्चारित होते हैं। शब्द के अन्तर्गत ही क्यों न हो वे उपसर्जनीकृत स्वार्थ हो जाते हैं। ध्वनि अर्थात् अभिव्यक्ति ही प्रमुखता धारण कर लेती है। और कहना नही होगा कि यद्यपि यहा अभिव्यक्ति मे उग्रता है, त्वरा है, आतिशय्य है पर कौन कहेगा कि अहिंसात्मक नही है। दूसरी ओर क्या आपने ऐसे अवसर नही देखे हैं जहां बड़े ही कोमल तथा मधुर शब्दों का प्रयोग होता है पर वे हृदय को चीर देते हैं। मैं अपने घर पर आये हुए किसी व्यक्ति से कहता हूँ कि आप ऐसे ही पुनः कृपा करते रहियेगा। पर इन शब्दों के पीछे खड़े रहने वाला हुँकार कह देगा कि मेरे घर अव कभी मत आना। इसमें कोई सदेह, नही कि शब्द भी, अर्थ भी उनको धारण करने वाले शब्द भी अभिव्यक्ति का काम—नही कर सकते।

S. I. HAYAKAWA ने अपनी पुस्तक "Language in Thought and Action" मे अपने व्यक्तिगत जीवन से एक बड़ा ही सुन्दर और नेत्रोन्मीलक उदाहरण दिया है जिसकी संगति हमारे विषय से इतने अच्छे ढंग से बैठती है कि उसे उद्धृत करने का लोभ मे सवरण नही कर सकता। ये लेखक जापानी है। १९४२ में जब विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध अपने पूरे जोरों पर था। जापान भी युद्ध में आ गया था। चारों तरफ यह अफवाह जोरो से फैल रही थी कि जापानी गुप्तचर सर्वत्र फैल रहे हैं और युद्धोपयोगी समाचार गुप्त ढंग से अपने अधिकारियो के पास प्रेषित कर रहे हैं। प्रत्येक जापानी को सदेह की दृष्टि से देखा जाता था। इन्ही दिनों उन्हें एक दिन स्टेशन पर गाड़ी के लिये प्रतीक्षालय मे दो तीन घटे रुकने के लिये बाध्य होना पड़ा था। वहां अन्य लोग भी थे। सभी उनको सदेह की दृष्टि से देख रहे

थे। एक दम्पति थे उनके पास एक बच्चा भी था। वे लोग विशेष सशंक और उद्विग्न दीखे और भयाक्रान्त हो आपस मे धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। HAYAKAWA को यह परिस्थिति अच्छी नही लगी। लोग उन्हे इस तरह गलत समझें यह उन्हें असह्य सा लगने लगा पर किया ही क्या जा सकता था ?

अतः उन्होंने अवसर देखकर पति महोदय से योंही कहा "ऐसी ठंडी रात में गाडी विलम्ब से आये यह बडी बुरी बात है" वे सहमत हुए। तब हयाकावा ने कहा कि ऐसी ठंडी रात मे जबकि गाड़ियों के आने जाने के समय का कोई निश्चय नही एक छोटे बच्चे को साथ लेकर चलना तो और भी कष्टप्रद है। पति महोदय ने सहमति प्रदान की। तब लेखक ने बच्चे की उम्र पूछी और कहा कि अपनी उम्र के हिसाब से तो यह बालक काफी हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान मालूम पड़ता है। इस बार भी सहमति पर साथ में एक मुस्कान भी। तनाव मे कमी आ रही थी। ऐसी बातो के पश्चात् उस व्यक्ति ने कहा "हाँ, हम लोग इस बच्चे को पाल-पोस रहे हैं। हाँ, आप तो जापानी हैं न ?" आपका क्या ख़याल है जापानी युद्ध जीत जायेंगे ? लेखक ने उत्तर दिया—"क्या कहा जाय ? अपनी-अपनी समझ है। सभी ठीक हैं। आपका समझना भी ठीक, मेरा समझना भी ठीक। समाचारपत्रों में जो खबरें आ जाती हैं, इससे अधिक कुछ जानता नही। परन्तु जैसा मैं सोचता हूँ कि जापान के पास लोहे और कोयले की कमी है, उसकी औद्योगिक क्षमता भी सीमित है। वह संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे दृढ़ तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र को किस तरह परास्त कर सकता है ?" इस कथन में कोई विशेषता नही थी। दिन रात इस तरह की बातें समाचारपत्रो में निकला करती थी। सब परिचित थे। अतः सहमत होना सहज था। तुरन्त सहमति प्राप्त हो गई। संदेह की दीवाल टूट रही थी। तुरन्त प्रश्न आया—"युद्ध के समय मे आपके परिवार के लोग वहा नही होंगे। ऐसी आशा है।"

"नही, वे वही हैं। मेरे पिता, माँ और दो छोटी बहनें भी वही हैं।"

"कोई समाचार सुनने को मिलता है ?"

"कैसे मिले ?"

"तो मतलब यह कि जब तक युद्ध समाप्त नही होता तब तक उनसे मिलने की आशा नही" इस बार दम्पति सहानुभूतिपूर्ण थे। परिणाम यह हुआ कि १० मिनट के अन्दर उन्हे नगर को देखने तथा भोजन का निमंत्रण प्राप्त हुआ।

इन उदाहरणों से हम किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं ? यही कि भाषा जिसके माध्यम से साहित्य मे अभिव्यक्ति संभव है उसके प्रयोग में दो स्तर स्पष्ट रूप से ही परिलक्षित होते हैं। एक तो प्रतीकात्मक स्तर और दूसरा–पूर्व–प्रतीकात्मक स्तर। प्रथम स्तर पर भाषा का प्रयोग ज्ञानवृद्धि करने के लिये, सूचनाएं देने के लिये, विचार-विनिमय करने के लिये किया जाता है। हम आज भाषा का प्रयोग इसी स्तर पर करते हैं और समझते हैं कि भाषा की उत्पत्ति इसीलिये हुई होगी पर कुछ गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि यह धारणा भ्रामक है। इस कल्पना के लिये पर्याप्त आधार प्राप्त होंगे कि भाषा की यह ज्ञान–दायक क्षमता, कोई नई बात कहने, कोई नई सूचना देने की योग्यता भाषा की मूल शक्ति नही भाषा के विकास के इतिहास में बहुत बाद की चीज है। प्रारंभ में मनुष्य भी पशुओं की तरह, अपनी आन्तरिक स्थिति मात्र, जैसे क्षुधा, पिपासा, कामेच्छा, भय, विजय, एकाकीपन की अभिव्यक्ति के लिये कुछ ध्वनियों का उच्चारण करता होगा। इन्ही ध्वनियों के वर्गीकृत रूप ने आगे चलकर भाषा का रूप लिया। मतलब यह कि भाषा अपने मौलिक रूप मे वक्ता की मनः स्थिति की व्यंजना थी। वह बतलाती थी कि वक्ता के चित्त की अवस्था क्या है ?

पर मनुष्य ने इसी भाषा को इस तरह विकसित किया कि उससे किसी विषय के सम्बन्ध में तथ्यात्मक रिपोर्ट देने का काम लिया जाने लगा। प्रयत्न यह होने लगा कि भाषा ऐसी हो कि वह निर्लिप्त रूप से, तटस्थता-पूर्वक वर्ण्य वस्तु का याथा-तथ्य प्रतिवेदन उपस्थित कर दे। जब से वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ भाषा के याथातथ्य प्रतिवेदनात्मकस्वरूप के विकास को अत्यधिक महत्व मिलने लगा। यही विज्ञान और गणित की भाषा है। पर आज की भाषा के आत्माभिव्यजनात्मक स्वरूप को सर्वथा बाद दे देना कठिन है। किसी तरह की सूचना देते समय, किसी न किसी तरह, अपनी मन: स्थिति की सूचना दे ही देते हैं। "नैक कहि बैननि सो, अनेक कहि सैननि सो, बची खुची सो कह दीनी हिचकीन सो।" मै कहता हूं "अहो। भयानक शिरो वेदना मां बाधते", अथवा "अहो ! मारो महान् कवेः।" इसमे अहो यह अभिव्यक्ति है आगे वाला अश रिपोर्ट मात्र है। अहो यह पूर्व प्रतीकात्मक स्तर है (Pre-symbolic) और बाद वाला अंश प्रतीकात्मक (Symbolic) स्तर है। वास्तव में जब हम भाषा का प्रयोग करते हैं तो इन दोनो स्तरों का मिश्रण वर्तमान रहता है और उसे रहना भी चाहिये।

जब से इन दोनों को पृथक् करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ तब से वाणी अविधि होती चली जा रही है। इधर पचास वर्षों के भीतर इतने शब्दों की संख्या बढ़ी है कि वह पहले हजार वर्षों में भी सम्भव नही हो सकी होगी। पर वे निष्प्राण हैं, खोखले हैं, उनमे मानो अर्थवत्ता या प्राणवत्ता नही है। ये शायद प्राणो की अभिव्यक्ति के लिये सृजे भी नही गये हैं।

जब हम अभिव्यक्ति की बात करते हैं तो भाषा के इन दोनों रूपों को हमे सदा ध्यान में रखना चाहिये। प्रतीक के रूप मे हम जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं उनसे स्वतन्त्र होकर भी ध्वनि अपने अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकती है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि चान्दनी रात है, नदी का किनारा है, शीतल, मन्द, सुगन्ध, वासन्तिक वायु बह रही है। कोई नारी कहती है कि कितनी सुहावनी रात है। तब इसका पता आप कैसे चलायेंगे कि वह केवल Metiriological observation कर रही है या यह चाहती है कि आप उसका चुम्बन लें, कालिदास के शब्दो मे मुग्धापरणेपु प्रकृति प्रगल्भ' अवश्य बने, भले ही तरंगाधरदानदक्ष न हो। इसका-निर्णय तो शब्दों की ध्वनि ही कर सकेगी। शब्द स्वयमेव कैसे कर सकेंगे ?

बात यह है कि जब से मुद्रणकला का विकास हुआ तब से साहित्यिक अभिव्यक्ति पर एक बड़ी विपत्ति आई। प्राचीन काल में जब हम साहित्य की बात करते थे तो उसका अर्थ होता था 'उच्चरित शब्द।' काव्य का संबंध साक्षात् रूपेण संगीत तथा नृत्य से था। काव्य एक सामाजिक क्रिया थी। महाकाव्य का अर्थ कुछ पृष्ठो से नही था जिनमे एक या अनेक वृत्तों से भरी कुछ पक्तियाँ हो। मुक्तक का अर्थ १०० या ७०० दोहो से नही था। कुछ पुस्तकालयों या दूकानो से नही था। मतलब यह था कि काव्य गेय है, नाटक के लिये रंग-मंच आवश्यक है। इत्यादि। यह परिस्थिति मध्य युग तक बनी रही। पर मुद्रणकला के आविष्कार ने इस आधार को ही नष्ट कर दिया। We have lost that sence of literature as the spoken word 1931 मे F. Walther Ebisch तथा Levin L. Schucking नामक दो प्रोफेसरों ने शेक्सपीयर पर १९२९ तक लिखी सामग्री का विवरण उपस्थित किया था (A Shakespeare Biblography, Oxford, 1931) उनका कहना है कि यद्यपि इसमे चुनी हुई सामग्री की ही गणना की गई है पर फिर भी उनकी संख्या ५००० से कम नहीं हैं। मैं कभी-कभी इस मनोरंजक कल्पना मे डूब जाता हूं कि यदि मुद्रणकला का ऐसा विकास नही हुआ

होता तो साहित्य की क्या अवस्था हुई होती। निस्संदेह, इससे हमें लाभ हुआ है। तुलसी पर, कालिदास पर, शेक्सपीयर पर, उनके दर्शन, विद्वत्ता, उनकी रचनाओ के विविध संशोधित पाठ, क्षेपक-प्रक्षेपक, उनके घर-परिवार के बारे में इतनी पाठ्य सामग्री नही मिल पाती। पर साथ ही बहुत कुछ खो भी गया है और वह मूल्यवान भी है। उस क्षति की पूर्ति हमे किसी दूसरे ढंग से करनी भी है पर जो खो गया वह पुनः लौटकर आने वाला नही। 'ते हि नो दिवसा गताः' पहले हम शारीरिक परिश्रम करते थे, हाथ-पैर चलाते थे। सब मांसपेशियो का व्यायाम हो जाता था। आज हम कुर्सी पर बैठ कर काम करते है, कुछ आसन वगैरह करके व्यायाम के द्वारा उसकी पूर्ति कर लेते हैं फिर भी वह बात कहां है ? जो बात गई सो गई।

आज का सारा साहित्य तन्त्र ही परिवर्तित हो गया है और वह परिवर्तन पूरा है। लेखक है, Self-conscius है किसी विशेष उद्देश्य से सृजन मे प्रवृत्त होता है, प्रचार का पुत्र है, प्रचार का शिकार भी। छपी पुस्तक का प्रकाशक पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही उसका विज्ञापन करने लगता है, रिव्यू निकलने लगते हैं, आलोचना की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। उधर मौन पाठक है, सिद्ध तपस्वी की तरह अपनी गुफा मे लीन, उसके नेत्र छपे शब्दों पर पड़े हुए हैं।

सचमुच बड़ी विकट परिस्थिति है। इसका सामना किस तरह करें। आज तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं न ? क्या आपने कभी सोचा है कि यह सब क्यों हो रहा है ? यह छटपट, तोड़फोड़, उठापटक क्यो ? ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि कविता एक जटिल परिस्थिति का सामना करने के लिए तरह-तरह की पैतरेबाजी कर रही है। वह समाज से कट गई है, अलग पड़ी हुई है पर फिर भी उसको अपने सहज प्रकृत रूप की याद आ जाती है और वह उसे भी बनाये रखना चाहती है। प्राचीन काल में जब तक कविता Spoken-Word थी, सामाजिक व्यापार थी जिसमें सभी सम्मिलित होते थे तब तक लोग कविता मे दो बातें सुनते थे। (१) वह क्या कहती है ? और (२) उसका टोन क्या है ? किस लहजे मे बात कह रही है, उसकी तर्जे अदा क्या है ? बैना भी, नैना भी, सैना भी। पर इधर की पीढ़ी जिसने अपना अधिकांश जीवन छापे के लिखित अच्छरो के बीच ही व्यतीत किया है वह शब्दो के बाह्यस्तरीय अर्थ को छोड़ उसके अन्तस्तरीय अर्थ के प्रति बधिर होती जा रही है। अतः उनसे सारे अर्थो का काम लेना पड़ता है। यदि इस

तरह के व्यक्ति से नारी परिचुम्बित होने की आकांक्षा करती है तो 'कितनी सुहावनी रात' कहने से काम नही चलेगा। उसे स्पष्ट शब्दो मे आमंत्रण देना पड़ेगा। वह युग दूसरा था — जिसमे "रसस्योक्तिः स्वशब्देन" दोष समझा जाता था। पर अब तो स्पष्ट शब्दों में रस की घोषणा करनी पड़ेगी। लोग शब्दों की अन्तर्ध्वनि को undertone को सुनना भूल गये हैं।

अतः प्रत्येक साहित्य-स्रष्टा को भाषा के Pre-Symbolic रूप को सदा अपने सामने रखना चाहिये। भाषा आज बहुत विकसित हो गई है, वह अपने मूल स्वरूप को भूलकर ज्ञानदान तथा सूचना-प्रदान करने वाले कार्य को महत्व दे रही है पर वह अपने मूल को छोड़कर बहुत दिन तक चल नही सकती। भाषा अपने मौलिक रूप को छोड़ भी नही सकती। घूम फिर कर अपने केन्द्रीय रूप पर आ ही जायेगी। आज जिस प्रकार की कवितायें लिखी जा रही हैं उन पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर बात स्पष्ट हो जायगी। आज कविताओं पर यह लांछन लगाया जाता है कि उनके वाक्य अस्पष्ट होते हैं, उनमे व्याकरण के नियमों का पालन नहीं किया जाता, उनके वाक्यो का संगठन ढीला होता है, विरामचिन्हो की परवाह नही की जाती। कविता की इस प्रवृत्ति पर कुछ लोग चिन्तित भी दीख पड़ते हैं। पर वास्तव मे मुझे इस में चिन्त्य बात नही दीख पड़ती यदि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' वाली बात का ध्यान रखा जाय। यह तो कविता अपने स्वाभाविक रूप को पहचानने की चेष्टा कर रही है।

आप किसी कर्म-काण्ड के अनुष्ठान, किसी धार्मिक या राजनीतिक समारोह को ध्यान से देखें या यदि आपकी कल्पना आपको प्रेरित करे तो आप आगे बढ़कर बच्चों तथा पशुओं के सम्मेलन समारोहों को देखें। बच्चों मे सहस्य भाव, एकत्व का भाव किस तरह स्थापित होता है, वहां तो सार्थक शब्द है ही नही, कुछ अस्पष्ट ध्वनियां हैं, मुद्रायें हैं, रुदन है, हास्य है, पर उनके संगठन में किसी तरह की बाधा नही होती। कुत्तो तथा सियारों मे सामूहिक भौंकन से ही काम चल जाता है। मनुष्यों मे भी सामूहिक नृत्य, गान, जमाव मे भी सार्थक शब्दों की आवश्यकता नही पडती। वहा केवल ध्वनियों का उच्चारण एक विशेष ढंग से होना चाहिए। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' हो या 'एक लाख जिन्दाबाद' इससे कोई मतलब नही। धार्मिक अनुष्ठानो मे वैदिक मंत्रों के अर्थ को कितने लोग समझते हैं। औपचारिक भोजन इत्यादि अवसरों पर नपे-तुले शब्दों मे जो भाषण होते है उनके अर्थ को कौन देखता

है, और उनसे ज्ञानसम्पन्नता में भी कितनी वृद्धि होती है ? पर उनसे बड़ी उपलब्धि होती है कि पारस्परिक सहयोग के भाव जागृत होते हैं। अतः आज की कविता मे व्याकरण की पाबन्दी नही, वाक्यों का संगठन भी नही, भाव भी परिचित नही, तो इससे घबराने की आवश्यकता नहीं। यह उसकी प्राण-वत्ता का प्रमाण भी हो सकता है।

ऊपर जिस बात की चर्चा हो रही है उसकी वास्तविक अनुभूति जितनी मुझे है उतनी दूसरे किसी को भी नही हुई होगी। मैं स्वयं एक बधिर व्यक्ति हूँ। मै स्पष्ट देखता हूँ कि दूसरे लोग जिन बातों का मर्म क्षणमात्र में शब्दोच्चार के साथ ही समझ लेते हैं, उसे मुझे समझने मे देर लगती है। एक छोटी सी बात को बढाचढ़ा कर कहने की आवश्यकता पड़ती है तब उसका मर्म मेरे पल्ले पड़ता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य को देखें तो पायेंगे कि उसकी अभिव्यक्ति समस्त पदावली में होती थी, अनेक अर्थों को समास मे ठूँस-ठूँस कर रख दिया जाता था पर अब वह शैली असमस्त होती जा रही है उसमें फैलाव आता जा रहा है। क्यों ? इसीलिये कि आज के साहित्य को ऐसे लोगो के प्रति निवेदन करना पड़ रहा है जो आंशिक रूप मे बहरे हैं।

अतः यही कारण है कि आज के साहित्य की अभिव्यक्ति में हिंसात्मकता का अंश कुछ अधिक है। यह अभिव्यक्ति नही है किसी चीज की अभिव्यक्ति है। इसमें सहजता का अभाव है। यह जानबूझ कर किसी उद्देश्य को लेकर लिखा गया है। इसमें लेखक का 'अहम्' नही सूडो अहम् (Psuedo Ego) छाया रहता है। इसमे लेखक देना तो चाहता है। क्या नहीं देना चाहता ? ज्ञान, विज्ञान, पाण्डित्य, शास्त्र, सब कुछ। पर एक ही वस्तु में कंजूसी करता है अपने को नही देता है, आत्मदान नही करता, आत्माभिव्यक्ति नहीं करता। और जिस अंश में वह, ऐसा करता है उसी अंश में उसकी अभिव्यक्ति अहिंसा-त्मक होती है और वह सफल होता है। मुझे इस बात की चिन्ता नही कि वह प्रेम, मैत्री और करुणा की बात न कहकर युद्ध की बात करता है, अमृत या संजीवन न देकर हत्या करता है या विष देता है। मुझे चिन्ता इस बात की रहती है वह किस ढंग से देता है। यदि वह गला काट लेता है मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा पर वह इस तरह छुरा भोंके जिस तरह ब्रूटस ने सीजर की हत्या की, माँ अपने बच्चे का बलिदान करती है। प्रियतम को प्राणों के प्रण मे क्षात्र धर्म के नाते जिस तरह क्षत्राणियां स्वयं सुसज्जित करके रण मे भेज देती हैं। ऐसे नही जैसे राम ने छिपकर व्याध की नाईं बालि पर बाण चलाया।

राम की बात चल पड़ी है। अतः प्रसंगानुरोध से मुझे राम ही के दो रूपों की स्मृति हो आती है। एक जिसमें हिंसात्मक अभिव्यक्ति है, जिसके कारण राम को भर्त्सना का शिकार होना पड़ा और इतिहास के पृष्ठ भी रक्त से लाल हुए चाहे ऐतिहासिक उसका जो अर्थ लगायें। दूसरी अहिंसात्मक अभिव्यक्ति जिसमे राम ने की हत्या ही पर सबके सद्भाव के पात्र हुए। यहां तक कि जिसकी हत्या की गई उसके भी। राम ने बाली को छिपकर मारा। परिणाम यह हुआ कि उनसे पूछा गया "मैं बैरी सुग्रीव पियारा, कारण कौन नाथ मोहि मारा।" रामने उसको उत्तर देने का प्रयत्न भी किया पर किसी को वे आश्वस्त नही कर सके। उन्ही राम ने शूद्र मुनि शम्बूक का भी शिरश्च्छेद किया पर छिपकर नहीं आमने-सामने। उनका हाथ तलवार उठाते समय काँप रहा है, वे कहते हैं—

> रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
> जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
> रामस्य गात्रमसि दुर्भरगर्भ-खिन्न-
> सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?

इसे ही कहते हैं अहिंसात्मक अभिव्यक्ति। इसका परिणाम होता है कि ब्राह्मण का पुत्र भी जीवित हो उठता है, शूद्र मुनि को भी मोक्ष प्राप्त होता है और विचार-जगत को बहुत बड़ी उपलब्धि प्राप्त होती है।

शम्बूक राम का कृतज्ञ हुआ। प्रश्न होता है। बाली में कृतज्ञता के भाव क्यों नही जागे? इसका उत्तर मैं पाठकों की सहृदयता पर ही छोड़ता हूँ।

बात यह है कि साहित्य अपने को सदा अहिंसात्मक रूप में ही अभिव्यक्त करता है। यदि उसमें हिंसा की बू आती है तो वह साहित्य की नहीं साहित्यकार के व्यक्तित्व की है। एक साधारण सी बात की ओर ही आपका ध्यान दिलाऊं। यह मेरी नही है। वर्ड्सवर्थ की है जो उसने काव्य और छंदों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय अपनी पुस्तक Lyrical ballads की भूमिका में लिखी है। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि व्यक्ति के ऐन्द्रिय संवेदन इतने तीव्र होते हैं, उसमे स्वगततत्व तथा परगततत्व की तीक्ष्णता इतनी मात्रा मे वर्तमान रहती है, उसमे इतना उद्वेलन, उन्मंथन, आलोडन, प्रत्यालोडन रहता है कि वे संवेद्य हो नही सकते। यदि वे अपने स्वरूप में सामने आयें तो उनसे अशांति ही फैलेगी। छंद-विधान मे एक सगति होती है, नैरन्तर्य

होता है, नियम-बद्धता होती है उनके सहारे प्रगट होने से भावों की खुरदराहट बहुत कुछ दूर हो जाती है। इसीलिये उनकी अभिव्यक्ति मे अहिंसात्मकता है, वे विक्षुब्ध नही करते, सान्त्वना प्रदान करते हैं।

ऊपर हम भाषा के दो स्तरो की चर्चा कर आये हैं। प्रतीकात्मक तथा पूर्वप्रतीकात्मक। प्रथम स्तर का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र मे होता है जहां प्रत्येक शब्द का अर्थ नपातुला और स्थिर है। वे सदा बाहर की ओर संकेत करते हैं, भीतर झांकने को प्रोत्साहित नही करते। हम इसके द्वारा सूचना मात्र का आदान-प्रदान करते हैं। उनका मानवता पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है इसे हम नही देखते। एक दूसरे कार्य के लिये भी भाषा का प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य स्वानुभूति का संचार होता है, जिसके द्वारा हम अपने व्यापकत्व की सीमा में सब को ले आते हैं, एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करते हैं और धीरे-धीरे उस एकता के सूत्र को पहचानते हैं जिसके द्वारा सारा विश्व बधा हुआ है। यह क्षेत्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का है जो पृथक्त्व के स्थान पर ऐक्य, और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की स्थापना करता है। विज्ञान हम में पारस्परिक सहयोग की क्षमता पैदा करता है, साहित्य पारस्परिक सहयोग की चाह उत्पन्न करता है। आज विज्ञान का इतना विकास हो गया है कि हम जो चाहे वह प्राप्त कर सकते हैं। पर आज तो हमारा ध्येय एक ही रह गया है 'सैनिक सुरक्षा'। बस सारे प्रयत्न इसी ओर केन्द्रित हैं कि कोई हमें रण मे परास्त न कर पावे। इस बर्बर इच्छा का नियन्त्रण करना हमारी तात्कालिक आवश्यकता है। एक होकर काम कर सकने की क्षमता ही पर्याप्त नहीं। हमें एक होकर काम करने की चाह भी होनी चाहिये और यह कार्य साहित्य और उसकी अहिंसात्मक अभिव्यक्ति से ही सम्पन्न हो सकता है।

६

मिश्रजी की साहित्यिक उपपत्तियाँ : एक विचार

पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र ने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में अपनी रचनाओं के द्वारा प्रसादातंकित उस युग में नूतन स्फूर्ति तथा चेतना प्रदान की थी। प्रसादजी के नाटकों की कथावस्तु प्रख्यात थी अर्थात् उनमे वैसी ही घटनाओ तथा वैसे ही पात्रों को आधार बनाया गया था जिन्हें पौराणिक कह सकते हैं। यदि स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, तथा अजातशत्रु के लिये पौराणिक शब्द जरा गम्भीर मालूम पड़े तो पुराण-कल्प कह सकते हैं, किंचिन्न्यूनः। मिश्रजी के प्रारम्भिक नाटकों की कथावस्तु (अशोक को छोड़कर, राक्षस का मन्दिर, सिन्दूर की होली) मौलिक थी। आलोचकों ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि प्रसाद की वृत्ति नारी पात्रों के निर्माण मे अधिक तल्लीन हो सकी थी, रस ले सकी थी, मिश्रजी की पुरुष पात्रों मे। प्रसादजी भारतीय संस्कृति के पुजारी समझे जाते थे, मिश्रजी नूतनता के प्रेमी। यहां तक कि शुक्लजी उन्हें 'अंग्रेज' ही बता गये थे।

पर बात कुछ दूसरी ही है। इधर मिश्र जी ने अपने भाषणों तथा लेखों मे जैसे विचार प्रगट किये हैं उनसे उनका दूसरा ही रूप प्रगट होता है और हमे भारतीय संस्कृति-साहित्य के सम्बन्ध मे पुनर्विचार करने की प्रेरणा देता है। इधर हाल ही मे उदयपुर विश्वविद्यालय में जो उन्होने तीन extention भाषण दिये वे इतने गर्मा-गर्म रहे, विचार इतनी उग्रता से प्रगट किये गये कि अंग्रेजी साहित्य के प्रेमियों की तो बात ही दूसरी है, हिन्दी के कुछ समर्थकों को भी वे रुचिकर नहीं लगे। क्यों रुचिकर नही लगे इसके लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उन्होने क्या कहा। उन्होंने जो कुछ कहा वह तो उनके भाषणो के पोर-पोर मे व्याप्त था पर विचार करने के लिये उनके विचारो को थोड़ा अलग करके ही देखना ठीक होगा। श्री भागवत् में एक श्लोक आया है।

यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते ।
पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रसवर्धनम् ।।

अर्थात् घृत तो दुग्धमात्र मे परिव्याप्त रहता है । पर उस अवस्था में तो उसका स्वाद नही लिया जा सकता वह देवताओ के लिये अखाद्य हो जाता है । अतः यहां दूध से मक्खन निकालना ही ठीक रहेगा ।

इस दृष्टि से मिश्रजी की कुछ उपपत्तियां ये हैं । (१) इधर का हिंदी साहित्य अपनी महान तथा दिव्य परम्परा का परित्याग कर यूनानी प्रभावापन्न पश्चिमी साहित्य का अन्धानुकरण कर रहा है । पश्चिमी साहित्य की आधारशिला ही दुर्बल, भ्रामक एवं क्षयिष्णु है । (२) भारतीय दर्शन जीवनानुभव को महत्व देता है । यूनान में जीवनानुभव का स्थान तर्क ने ले लिया । परिणामस्वरूप, यूनानी साहित्य घृणा, हत्या तथा अपराध की भूमि पर खड़ा हुआ । (३) भारतीय दर्शन पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त पर अटूट श्रद्धा रखता है । 'पुनरागमनं कुत.' वाली वाणी यहां नक्कार खाने मे तूती की आवाज बन कर रह गई । सृष्टि का अन्त यहां स्वीकार नही किया गया, मृत्यु केवल रूपविपर्ययमात्र है । हमने साहित्य को आनन्दस्वरूप माना है, इसलिये यहा का साहित्य हत्या, अपराध, मृत्यु इत्यादि की विभीपिका की छाया से कलुषित नही है । (४) कवि व्यक्ति नही विधाता है । काव्य-सृजन वह समाधि की दशा मे करता है । पश्चिम के व्यक्तिवादी कवि इस बोध के अभाव मे अविद्या के आडम्बर मे पड़े रहे । नर नारी के प्रणय रतिभाव को वे सात्विक और पवित्र न मान सके । (५) लोक का सबसे बड़ा अभाव निस्संतान होना है, उसके बिना जीवन निष्फल है । कालिदास ने जहां कही प्रणय व्यापार दिया है उस व्यापार का फल संतान भी दिया है । हम पश्चिमी प्रभाव मे आकर साहित्य को जीवन की आलोचना मानने लगे हैं । यह इसलिये है कि कवि को विधाता नही, व्यक्ति माना जाता है । विधाता जीवन की सृष्टि करता है । व्यक्ति जीवन की आलोचना करता है । यही कार्य आधुनिक युग के कवि करने लगे हैं । यह गलत है ।

इन सब बातो के द्वारा मिश्रजी यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि आधुनिक भारतीय साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्य, अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति उदासीन होने तथा पश्चिमी साहित्य की ओर उन्मुख होने के कारण ही अधिक फल-प्रसू नही हो रहा है । वह एक तरह से निस्संतान है । मिश्रजी की बातों से मतभेद हो सकता है । पर जब वे यह कहते हैं "हमारा आज

का साहित्य यदि अनुवाद के रूप मे पश्चिमी भाषाओं में रखा जाय तो वहां के विचारक इसे देखकर विस्मित न होंगे जैसा अभिज्ञान शाकुन्तल के अनुवाद से उनके पूर्वजो को हुआ था" तो उनके कथन को भावुकता कहकर टाला नहीं जा सकता।

सर्व-प्रथम बात तो यह है कि मिश्रजी ने कोई नई बात नहीं कही है। दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, इत्यादि यही बात कहते आये हैं। कबीर ने कोई ऐसी बात नही कही थी जिसे उनके पूर्ववर्ती सिद्धो, नाथों ने न कहा हो परन्तु परिस्थितिया परिवर्तित हो गई थी अतः उनकी वाणी अधिक उग्र हो गई थी। शायद इसकी आवश्यकता भी थी। उसी तरह "मिश्रजी" की आज आवश्यकता है हम इस बात का अनुभव करते हैं। यह बात सही है कि भारत स्वतन्त्र जब से हुआ मानो यूरोपीय विचारो के ग्रहण करने के लिये उसके सब द्वार उन्मुक्त हो गये। जब तक वह परतन्त्र था तब तक विदेशी प्रभाव ग्रहण पर भी कुछ प्रतिबन्ध था। न हो वाह्य, आन्तरिक ही सही पर कहीं न कहीं प्रतिरोध तो था ही। मेरे दादाजी पुलिस विभाग मे इन्स्पेक्टर थे, खूब मंजी हुई अग्रेजी लिखते थे, अंग्रेजो के प्रशसक भी थे, पर अग्रेजीपन से उन्हे घृणा थी। आज अग्रेजी का स्टैंडर्ड गिरता जा रहा है, अंग्रेजी हम शुद्ध नहीं लिख पाते पर अंग्रेजियत ऊरूजे कामयाबी पर है। यदि भारत को अपने सच्चे स्वरूप को उपलब्ध करना है तो आज भारत को जल्दी से जल्दी अमेरिका या यूरोप बनाने का जो सर्वारम्भ हो रहा है उसे रोकने के लिये ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता है जो उद्घोषित करें, चाहे कोई सुने या नहीं कहे कि 'धर्मार्थश्च कामश्च'। यही मिश्रजी कह रहे हैं। मेरी कल्पना है कि भारत की जीवनी शक्ति ऐसे अनेक मिश्रजी को उत्पन्न करेगी।

मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने मिश्रजी के उस रूप को भी देखा है जब कि आज से ३२–३३ वर्ष पूर्व 'अशोक', 'सिन्दूर की होली' की रचना कर रहे थे। उन दिनो भी वे शेक्सपियर की कृतियों के प्रति सश्रद्ध नहीं थे। जयशंकरप्रसाद जी की तो प्रतिक्रिया के ही रूप मे मिश्रजी के नाटक अस्तित्व में आये। परन्तु इन दिनों पश्चिमी साहित्य-विशेषतः शेक्सपियर के विरुद्ध उनकी वाणी मे जो कटुता है कड़वाहट है, उग्रता है, हिंसात्मकता है वह उन दिनों नहीं थी। यह परिवर्तन परिस्थितिजन्य है। समय की मांग है।

पर यह भी सही है कि भारतीय साहित्य की आनन्दमूलकता, प्राचीन साहित्य के जीवन-जयोच्चार तथा उसके ठीक विपरीत पश्चिमी साहित्य मे

मृत्यु-जय-निनाद की बात कहने वाले विचारक की वाणी में इतनी हिंसात्मकता, ध्वंसात्मकता, दाहकता भी वांछनीय नहीं है। सत्य और अहिंसा की शक्ति, सामर्थ्य की कसौटी यही है कि युद्ध का भी सामना करने की शक्ति इसमें हो। यदि हम देश पर आक्रमण का सामना अहिंसात्मक उपायों से न कर तोप और तलवार के द्वारा ही करने लगें तब सत्य और अहिंसा का महत्व ही क्या रहा। यह बात असंगत सी लगती है कि हम बात तो करें साहित्य के आनन्द की और हमारी बातें ऐसी ही हों कि उनसे लोगों का गला कटे, भले ही वह शत्रु का ही हो।

मिश्र जी के श्रोताओं में दो वर्ग तो स्पष्ट ही थे। (१) समर्थक (२) विरोधी। प्रथम वर्ग तहेदिल से उनकी बातों की ताईद करता था। खूब कहा मिश्र जी ने। "बहुत दिनों के बाद स्पष्ट, सच्ची और खरी बात सुनने को मिली।" दूसरा वर्ग उन्हें घृणा का प्रचारक, विद्वेषक और न जाने क्या क्या कहता था। "जिसे पश्चिमी साहित्य का ज्ञान न हो तो उसे उस पर बोलना नहीं चाहिए।" मेरे जैसे लोग भी थे जिनकी स्थिति विचित्र थी। मैं उनकी बातों से प्रभावित था, उनके महत्व को महसूस भी करता था। फिर भी उसका विरोध करता था। फिर भी उनकी बातें मेरे मन में घुलती जाती थी। तीसरे दिन उनकी विदाई के अवसर पर मेरे हृदय में जो बाते बनी वे ये हैं।

मिश्र जी आपको बधाई दूं। आप मुझे जीत कर जा रहे हैं। आज से तीस वर्ष पूर्व आपने मुझे जीता था जब आपके व्यक्तिगत सम्पर्क ने तथा 'सिन्दूर की होली' ने एक इतिहास के विद्यार्थी को साहित्य की ओर प्रेरित किया था और भारतीय साहित्य की सेवा की ओर आकर्षित किया था। यथाशक्ति जिसने सेवा की भी। पर बीच में वह रंग कुछ उखड़ने लगा था और वह अंग्रेजी साहित्य के प्रभाववृत्त में आ गया था। आज आपने दुर्वासा की तरह आकर उसके हृदयद्वार को खटखटाकर 'भो अयं भोः' की गंभीर वाणी का उच्चारण किया और उसे पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया। यह आपकी दूसरी जीत है। और यह अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रथम बार तो आपने एक निरीह किशोर को जीता था जिस पर कोई गहरा रंग नहीं चढ़ा था। पर इस बार तो आपने एक रंगीले वृद्ध को जीता है जिसके लिए कवि तो यही कहता है "मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।" पर एक बात अवश्य है, यदि इतनी बड़ी जीत ले कर जा रहे हैं तो ऐसे ही न जाइये। थोड़ा जीते जाकर भी जाइये।

मैं मान लेता हूँ कि पश्चिमी साहित्य में हिंसात्मक प्रवृत्ति है, वहाँ पर जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों तथा शाश्वत तत्वो के प्रति आस्था, निष्ठा नही है और इन वातो का उनके साहित्य पर असर पड़ता ही है पर स्रष्टा की मनःस्थिति सदा और सर्वत्र एक ही है। मूल सृजन प्रेरणावेग एक है। आगे वढ़ने पर सृष्टि की सिद्धि तक पहुँचते-पहुँचते जो भी विभिन्नता दीख पड़ने लगे पर कवि तो सब जगह एक रहेगा। यूरोपीय इतिहास मे कितने युद्धों की वातें सुनते हैं। Seven year's war, 30 year's war, 100 year's war, wars of Roses, war of Jenkin ears ये सव वातें अपने इतिहास में कहाँ सुनने को मिलती हैं। यहाँ भी युद्ध हुए ही होंगें। पर उन्हें युद्ध की संज्ञा नही दी गई। सवसे वड़ी लड़ाई कौरवो और पाण्डवों की है पर उसे भी महाभारत ही कहा गया और वह भी १८ दिनों तक ही चला राम-रावण युद्ध भी तुरन्त ही समाप्त हो गया। हमारे इतिहास ने इसके विग्रहशील रूप से अधिक सांस्कृतिक रूप को ही याद रखा। इनके ध्वंसात्मक रूप पर ऐसा पानी फेरा कि वे अधिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक बन गये, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार पुरुपार्थों की गाथा वन गये। सचमुच इसमें भारत की आत्मा वोलती है। हमने independence शब्द तो वहुत बार सुना। अंग्रेजी वोलते हुए उसका प्रयोग भी खूब किया, independence-day भी Celebrate किया पर जव मनाना हुआ तो अनधीनतादिवस मनाया। स्वतन्त्र मतलब अपना नियन्त्रण ऐसा नही कि कोई तन्त्र ही नही हो, independence मतलव not dependence हो। शब्दों के द्वारा देश की संस्कृति बोलती है। वह आज भी बोल रही है। न जाने किस रहस्यमयी शक्ति ने आज तक हमें Independence, not dependence अनधीनता, अधीनता के अभाव को वरेण्य स्वीकार नहीं करने दिया और कहा कि हम निषेधात्मक न बनें, हमारा दृष्टिकोण धनात्मक (positive) हो, हमें अधीनता भी त्याज्य नही वशर्ते वह स्वयं की हो।

आप शेक्सपियर से वहुत नाराज हैं। उसे मार डालना चाहते हैं। आपको इस वात की वड़ी शिकायत है कि उसके नाटकों मे इतने छल, कपट, हिंसा, इत्यादि का वातावरण प्रमुख क्यों है। एक नाटक मे १३-१३ हत्यायें। 'धिक् अब्रह्मण्यम्' आपकी वात ठीक हो सकती है। पर साहित्य के मुक्त प्रांगण मे हिंसा इत्यादि विपयो पर प्रतिवन्ध लगाकर आप उसकी सीमा संकुचित नही कर रहे है ? हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्री ने विषय की दृष्टि से साहित्य को पूरी छूट दे रखी थी। और कहा था—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ।

और आप हैं—कि शेक्सपियर मे जरासी हिंसा की गध पाई कि 'एक चुल्लू पानी मे उसके ईमान को वहा कर उसे काफिर की मौत की सजा दे रहे हैं ।

वास्तव मे सच पूछिये तो मैं भी शेक्सपियर से प्रसन्न नही हूं । चाहता हूं कि उसे मार डालूं । पर आप जिस तरीके से उसे मार डालना चाहते हैं उससे वह मरेगा भला ? यही देखिये ना आपने उस पर तलवार चलाई है कि वह खतम हो जाय पर परिणाम यह हुआ है कि उसकी एक एक बूंद से कितने ही शेक्सपियर उठ खड़े हुए हैं । उसके मारने का सही तरीका है कि उसके रक्त को खप्पर में बटोर कर चाट जाइये । हमे शेक्सपियर का खून तो पीने दीजिये । आइये एक एक काम करें । आपके अन्दर चोट है । (और मैं उसका आदर करता हूं ।) तो आप शेक्सपियर पर भले ही चलाइये तलवार पर उसके रक्त का पान करने से हमे न रोकें । Let Shakspeare die a natural death. भारतीय सस्कृति, जबकि 'यूनान, मिश्र, रोमां सब मिट गए जहां से' अभी तक जीवित रही है तो इसी कारण कि वह न जाने कितने शेक्सपियरो को उदरस्थ कर आत्मसात् करती रही है । हमारी जठराग्नि बहुत प्रबल है । उसका भरोसा रखें वह शेक्सपियर वगैरह सबको ठीक कर देगी । आज शेक्सपियर जो दर्द पैदा कर रहे हैं वह इसलिए कि हमारे स्वास्थ्य मे कही गड़बड़ी है । उसे ठीक होने को कहिये, जठराग्नि को जगाइये ये सब शेक्सपियर या तो मैल की तरह झड़ जायेंगे या हमारे रक्त का अंश होकर रह जायेंगे ।

बुद्ध और महावीर थे वेदविरोधी पर हमने उन्हें ऐसा रगा कि वे अवतार बन कर रह गए । एक थे अल्ला मियां । उन्होने तो बड़ा तूफान मचाया । हमने अल्लोपनिषद तक लिखा और चाहा कि उन्हें पराया न रहने दें । यदि दाराशिकोह की विजय हुई होती तो आज इतिहास दूसरा ही होता पर कालपुरुष बैठा हंस रहा था । विजय हुई औरंगजेब की । हम इस आघात से सभल ही रहे थे कि बीच में टपक पड़े अग्रेज और हमारे प्रयोग की सारी प्रक्रिया उलट पुलट गई । और इस परिस्थिति को हम आज अपने ढंग से सुलझाने मे संलग्न हैं । यह जो आप आज जेहाद या क्रूसेड कर रहे हैं वह तो कुछ नही केवल अपने घर को ठीक कर लेने की क्रियामात्र है ।

जहां तक मेरा प्रश्न है, मेरा दृष्टिकोण साफ है। संस्कृत मेरी मां है, हिन्दी धर्मपत्नी है, अंग्रेजी मेरी प्रेयसी है। इस प्रेयसी को मुझसे न छीनिये। आप कहते हैं प्रेयसी नहीं रखैल। रखैल ही सही। पर इसने बड़े गाढ़े मौकों पर जब कि पत्नी भी साथ नही देती थी, सेवा की है। इसे घर से निकालूं कैसे? यदि निकालने की चेष्टा भी करूं तो यह निकलने से रही। हां, यह फ्राक नही पहनेगी, खद्दर की साडी धारण करेगी, लिपिस्टिक और पाउडर भी यदि आप चाहे तो, नही लगायेगी, गगा स्नान कर मदिर में पूजा करेगी, चर्च मे नही जायेगी। पर इसे घर से निकालना न तो मानवोचित है और न व्यावहारिक। भारत का इतिहास बहुत पुराना है। उसके सामने ऐसी समस्या नई आई हो सो बात नही। कितनी बार ऐसी समस्यायें उसके सामने उपस्थित हुई हैं और उसने उनको शान के साथ हल किया है। रोग से कोई कब तक मुक्त रह सका है। शरीर है तो रोग होगा ही। "शरीरं व्याधि-मन्दिरम्" शेक्सपियर रोग है। माना! पर रोग का सम्बन्ध जीवन से है। मृत्यु से नही। वह मारने नही जिलाने आता है, स्वास्थ्य प्रदान करने के लिये आता है। मिथ्याहारविहार के कारण शरीर मे विकृतियां एकत्र हो गई हैं। प्रकृति उसे दूर करना चाहती है। उसे ही हम कहते हैं रोग। भयानक, तीव्र, दमनात्मक औषधियों से, जैसा आप चाहते हैं, तो यह दूर क्या होगा और भी प्रबल हो जायेगा और अन्त मे ले डूबेगा। आज तक इन्जेक्शनों से अथवा डाक्टरो की दवाओ के बड़े बड़े डोजों से किसी को स्वस्थ होते तो मैंने नही देखा। आप वही करना चाह रहे हैं। आपकी वाणी में हिंसा है। हिंसा के दिन लद गये। हम या तो विनाश युग में प्रवेश कर रहे हैं या अहिंसा के। मानवता का नाश कभी होने वाला नही है। अतः अहिंसा की ही विजय होगी। हिंसात्मक उपायों से तो देश की स्वतन्त्रता शायद जल्दी ही मिल गई होती पर गांधीजी ने वह नही ली। क्योकि वे जानते थे कि वैसी स्वतन्त्रता कागज का फूल है।

अतः हम अपने प्राचीनों के द्वारा समन्वयात्मक मार्ग पर सबको साथ लेते हुए आगे बढें। इसी मे कल्याण है। क्यो न शेक्सपियर को भी अवतार मान लिया जाय। हमारे पूर्वजो ने अल्लोपनिषद लिखा। क्या हम शेक्सपियरोपनिषद या ख्रीष्टोपनिषद नही लिख सकते। सच पूछिये तो हम आपको ही शेक्सपियर का अवतार [मानते हैं। जानते ही हैं मै मनोवैज्ञानिक हूं। सर्वकार्यारम्भ मे कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक कारण ढूंढ निकाल लेता हूं। आप

शेक्सपियर के प्रति इतने कठिन, कठोर हैं न। पर वास्तविकता तो यह है कि आप शेक्सपियर के मन ही मन कायल भी हैं। उसके महत्व को महसूस करते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने कहा ही है कि Love and hate are basically same kind of response." एक ताजा उदाहरण दूं जो सबके सामने प्रत्यक्ष है। यह भी सही है कि आप जयशंकर प्रसाद जी की नाट्य कला एवं उनके कृतित्व से संतुष्ट नही थे। वास्तव मे लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक प्रसाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही उत्पन्न हुए थे। पर आपके मित्र जो आपके साथ आये है उनका नाम श्री जयशकर प्रसाद है। क्या यह हमे सोचने के लिये अवसर नही देता कि आपका अचेतन जयशकर प्रसाद के महत्व से प्रभावित भी हैं। क्या उसी तरह मैं सोचूं कि शेक्सपियर के विरुद्ध आपके अचेतन का आकर्षण ही इस भयकर अपकर्षण के रूप मे सामने आ रहा है।

७

प्रकृतवादी उपन्यास

यह कहने की आवश्यकता नही कि आधुनिक उपन्यास कला की प्रवृत्ति जीवन का यथार्थ चित्रण उपस्थित करने की ओर है। वह चाहती है कि जीवन का जो रूप उसे प्रत्यक्ष देखने को मिलता है, ठीक उस से मिलता जुलता रूप साहित्य मे भी देखने को मिले। विज्ञानानुप्राणित युग में यह स्वाभाविक भी है। साहित्य की अनेक विधायें हैं, नाटक, काव्य, उपन्यास इत्यादि। इन सवों में उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जिसमें विज्ञान की इस यथार्थवादी मांग के साथ देने का सबसे अधिक माद्दा है। अतः इस क्षेत्र मे अधिकाधिक यथार्थवादी प्रयोग हुए हैं। वास्तव में कविता मे यथार्थवादी मांग के साथ न्याय करने की नैसर्गिक शक्ति है ही नही, उसे यथार्थ की भूमि पर उतारने की चेष्टा बहुत बार हुई है पर इतिहास साक्षी है कि यह बात पूर्णतया संभव नही हो सकी है। एक क्षण के लिये यह श्याम परी इस भूमि पर उतरी हो पर उसका मन यहां रमा नही है, वह उड़ कर फिर अपने स्वर्णनीड मे चली गई है। इस दृष्टि से नाटक अवश्य कुछ अधिक सौभाग्यशाली है पर उस पर रंग-मंच इत्यादि के इतने बंधन हैं कि उनमें पड़ कर यथार्थ का रूप ही विकृत हो जाता है। सच पूछा जाय तो उपन्यास में भी यथार्थ का यथार्थावरण नही हो सकता। इतना ही कह सकते हैं कि यहां पर इस अवतरण-व्यापार के लिये सर्वाधिक सुविधायें हैं।

इसीलिये उपन्यास के क्षेत्र में यथार्थवाद को अपने पैर फैलाने का अवसर भी मिला है। प्रकृतवाद यथार्थवाद का ही चरम विकसित रूप है। उसी की चर्चा यहां पर की जा रही है। प्रकृतवाद की यह धारा आज अर्द्धशताब्दी से अधिक से उपन्यास के क्षेत्र में प्रवाहित होती रही है। अनेक प्रतिभाओं का वरदान उसे प्राप्त होता रहा है। इसके अनेक पहलुओं पर विचार किया गया है, गुण दोषो की परीक्षा की गई है। आवेश मे आकर इस पर प्रबल आक्रमण भी हुए हैं और उतने ही आवेश से उसकी सुरक्षा की व्यवस्था भी की गई है

और यह अनुभव की बात है कि भावावेश में आने पर हाथ की साधना नष्ट हो जाती है, तीर लक्ष्य पर जाकर ठीक नही बैठता, या तो नीचे रह जाता है या ऊपर चला जाता है। परन्तु अब वह जोश ठंडा पड़ गया है। अतः इस पर हम ठंडे दिल से विचार करने की परिस्थिति में हैं।

हिन्दी कथा-साहित्य मे तो विशुद्ध प्रकृतवादी उपन्यास का प्रयोग हुआ ही नही। पश्चिमी साहित्य का प्रभाव यहां अवश्य पड़ा है पर वह यथार्थवाद की सीमा से आगे बढ नही पाया है। प्रेमचन्द तो आदर्शोन्मुख यथार्थवाद तक ही सीमित रहे। परन्तु इससे जब आगे बढ़ने का अवसर आया तो उसी समय मनोविज्ञान की हवा यहां पर बहने लगी और उसने प्रकृतवाद को पनपने नहीं दिया। यह तो कोई भी सहज ही देख सकता है कि प्रकृतवाद की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, वह इस नामरूपात्मक विश्वप्रपंच को ज्ञानायत्त करना चाहती है पर मनोविज्ञान होता है अन्तर्मुखी, वह मानव मन अर्थात् आन्तरिक जगत् को ही अधिक महत्व देता है। जो हो, इतना निश्चित है हिन्दी कथा साहित्य में प्रकृतवाद के विशुद्ध उदाहरण नही मिलते। प्रकृतवाद की लड़ाई, सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनो रूपो में, खुलकर फ्रेंच तथा अमेरिकन कथासाहित्य में ही अनेक पैंतरेबाजी के साथ लडी गई है। फ्रांस के जोला तो इसके प्रतिपादक ही कहे जा सकते हैं। अमेरिका मे नौरिस, ड्रेसियर फार्रेल तथा स्टेनबेक जैसे उपन्यासकारो की लम्बी पंक्ति है जो प्रकृतवाद के इतिहास को घेरती है। अतः इसके स्वरूप को, इसके प्रेरक बौद्धिक सूत्रों को समझने के लिये तथा यह देखने के लिये कि व्यवहार में लाने के लिये इनमे क्या परिवर्तन करना पड़ा है, हमें अमेरिकन तथा फ्रेंच कथासाहित्य से ही अधिक सहायता प्राप्त होगी।

प्रकृतवाद के लक्षण के लिये, कहिये इसकी परिभाषा के लिये, या शास्त्रीय शब्दावली मे इसके असाधारण-धर्म-वचन के लिये दो शब्दों को ध्यान मे रखना चाहिये। निराशावादी नियतत्ववाद (Pessimistic Determinism) प्रकृतवादी उपन्यासकार नियतत्ववादी होते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जीवन के सर्वकार्यारंभ कुछ सामान्य नियमों से परिचालित होते हैं, वहां पर घटना-व्यापारो को नही परन्तु उनको संचालित करने वाले कुछ सार्वभौम नियमों की प्रधानता होती है। कार्य कुछ नहीं कारण रूप मे सक्रिय रहने वाले कुछ अकाट्य नियमों का ही अवश्यंभावी परिणाम है। हल्दी और चूने के संमिश्रित होते ही कुछ सर्वसमर्थ प्रकृति नियम अपना प्रभाव दिखलाना आरंभ कर देंगे और वहां पर लाल रंग का आविर्भाव हो ही जायेगा। प्रकृति के नियम अपना

कार्य करते ही रहेंगे कोई .उन्हे रोक नही सकता। इसी अर्थ मे प्रकृतवादी नियतत्ववादी (determinist) हैं।

दूसरी ओर वे निराशावादी भी हैं। यह निराशावाद सच पूछा जाय, तो यह नियतत्ववाद से ही निकला हुआ एक उपसिद्धांत सा है। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति की निर्मम, अंधशक्तियों के हाथ मे खिलौना-सा है। वे जिस तरह चाहे उसे नचावें। मनुष्य अपने भाग्य तथा नियति का स्वामी नही, बल्कि वह प्रकृति के नियमो का दास है। वह अपने चैतन्य कार्यों के द्वारा, सोच समझ कर किये गये कार्यों के द्वारा अपने जीवन मे आनन्द प्राप्त नही कर सकता। धर्म या नीति सदसत् कार्यो की दुहाई देते रहें परन्तु मनुष्य का जीवन अपने प्राकृतिक नियमों के द्वारा परिचालित होता है वह न तो सत्कर्मो के लिये पुरस्कृत होता है और न असत्कर्मों के लिये दण्डित।

प्रकृतवादी उपन्यासो मे कुछ शब्द, वाक्य या वाक्यांश बार बार प्रयुक्त हैं जिनके द्वारा भी इनको सचालित करने वाली विचारधारा को समझने में सहायता प्राप्त हो सकती है। मीमांसको ने किसी ग्रथ के तात्पर्य निर्णय के लिये कितने ही 'लिङ्ग' बताये हैं उनमे 'अभ्यास' का नाम भी लिया है। अभ्यास का अर्थ होता है पुनरावृत्ति। अर्थात् यदि किसी ग्रन्थ मे किसी तथ्य या बात की बार-बार पुनरावृत्ति हो तो समझना चाहिये कि लेखक उसे प्रमुखता देना चाहता है। उसी तरह प्रकृतवादी साहित्य मे बार-बार प्रयुक्त शब्द कुछ सार्थक सूत्रों का काम कर सकते हैं जिनके आधार पर वास्तविक तात्पर्य को ढूढा जा सकता है। Malcolom Cowley ने अपने लेख "A Natural History of American Naturalism" मे प्रकृतवादी उपन्यासो मे बहुधा प्रयुक्त ऐसी बहुत सी शब्दावलियो, वाक्यो तथा वाक्यांशों का उल्लेख किया है। "The Irony of its Circumstances" कहा जाता है कि मनुष्य के वास्तविक चारित्र्य का पता तब चलता है जब वह किसी महान् सकट के सन्मुख होता है। तुलसी ने कहा "धीरज, धर्म मित्र अरु नारी, आपत्काल परिखियहु चारी।" पर यह आपत्काल परीक्षण इन्ही चारो के लिए ही सीमित नही है। इसके व्यापकत्व की परिधि मे मानवमात्र आ जाते हैं। सकटकाल ही ऐसा है जो मनुष्य के असली जौहर को सामने लाता है। प्रकृतवादी उपन्यास के पात्र किसी तरह की पारिस्थितिक असाधारणता के सामने आते ही अपना रूप बदल देते हैं। उन पर से मानव-सभ्यता का केंचुल झड़ जाता है, सभ्यता ने मनुष्य मे जितने गुणों का—करुणा, मैत्री, स्नेह, इत्यादि का विकास किया

है सब काफूर हो जाते हैं (lose all semblance to humanity) और वे मात्र पशु रह जाते हैं (Abysmal brute) । ये उपन्यास जीवन-संघर्ष की कथाओं से भरे पड़े हैं, जिसमें शारीरिक और पाशविक शक्ति की विजय महिमा गाई गई है, बताया गया है कि जीवन का अधिकार उसी को है जिसकी भुजायें दृढ़ और लम्बी हों और उनमे दूसरों की गर्दन को मरोड देने की ताकत हो। वही जाति जीवित रह सकती है जो दूसरी जातियों को नष्ट कर सके। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली लोकोक्ति के उदाहरण देखने के लिये प्रकृतवादी उपन्यासो से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही। आनुवंशिकता और पर्यावरण किस कठोरता से मनुष्य के पैरों को छान कर एक विशेष तरह की प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य कर देते हैं इस बात का उदाहरण उपस्थित करना प्रकृतवादी उपन्यासों का लक्ष्य है।

प्रकृतवादी उपन्यास के सम्राट जोला पर डारविन, लैंपलोरा इत्यादि विकासवादियों का अत्यधिक प्रभाव था। वे जड़वादी थे। इन्द्रियातीत किसी आध्यात्मिक शक्ति के अस्तित्व मे उनका विश्वास नही था। अपने उपन्यासों में उन्होने विचार प्रकट किये हैं, उन्हें एकत्र कर, उनका मनन कर लोगो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जोला वैज्ञानिकों की तरह उपन्यासकारों को भी प्रयोगशाला में बैठा देना चाहते थे। वे चाहते थे कि जिस तरह एक रासायनिक वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे तटस्थ भाव से एक द्रव के दूसरे द्रव पर पड़े प्रभाव को देखता है, उन्ही के आधार पर अपने परिणाम निकलता है। उसी तरह उपन्यासकार को भी भावुकता से तटस्थ हो कर निर्मम रूप से बिना अपनी आत्मीयता (Subjectivity) का पुट दिये घटनाओं का विकास होने देना चाहिये। प्राकृतिक नियम धर्म की, नीति की, औचित्य या अनौचित्य की परवाह नही करते। अग्नि का काम है जलाना, वह अपना काम करेगी ही चाहे बालक हो, वृद्ध हो या युवा हो, पापात्मा हो या पुण्यात्मा। जोला उपन्यास के क्षेत्र में विचरण करते हुए मानव आचरण का इस तरह निरीक्षण करना चाहते थे मानों वे पशुओं के व्यापार का निरीक्षण कर रहे हो। उनका सिद्धांत था कि प्राकृतिक नियम सर्वोपरि है, उसकी गति अप्रतिहत है। मनुष्य उसके हाथ में खिलौना मात्र है। Study men as simple mear and note the reaction. What matters most to me is to be purely naturalistic, purely physiological. Instead of having principles (Royalism, Catholicism) I shall have laws (Heredity, Atavism) ।

एक उदाहरण पर्याप्त होगा । जोला आनुवंशिकता के नियम में विश्वास करते थे । वे समझते थे कि जिस तरह रासायनिक या भौतिक शास्त्र के नियमों के अनुसार ही एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करता है, उसी तरह मनुष्य के स्वभाव, उसकी वुद्धि, उसकी भावनायें अपने वंश के गुणों के द्वारा निर्मित होती हैं । पाप और पुण्य की शक्कर तथा कासीस की तरह कुछ नियम पूर्व भावी पदार्थों के गुणावगुण हैं। अतः उन्होने अनेक उपन्यासों में Rougoun Macquart परिवार के कुछ गुणो या दुर्गुणों को अनेक पीढ़ियो तक तद्-वंशोद्भूत लोगो के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रभावित करते हुए दिखलाया है ।

प्रकृतवादी औपन्यासिकों की परम्परा मे Stephen Crane का नाम भी प्रसिद्ध है । 'Maggie नामक अपने उपन्यास के प्रकाशित होने पर उन्होने उसे एक धार्मिक व्यक्ति Reverend Thomas Dixon के लिए भेजा । साथ ही उन्हे एक पत्र भी लिखा जिससे प्रकृतवादियों की विचारधारा का पता चल सकता है । उन्होने लिखा "निश्चय ही इस पुस्तक को पढ़कर आपको वहुत आघात लगेगा पर कृपया साहस वटोर कर इस पुस्तक को अन्त तक पढ़ जाने का कष्ट करें । कारण इसमे यह दिखलाया गया है कि पर्यावरण मनुष्य जीवन मे एक वहुत वडी चीज है और विना किसी रियायत के जीवन को गढता चलता है । यदि मैं इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर सका तो, मेरा ख्याल है, मैं स्वर्ग में सव आत्माओ को (प्रधानतः सड़क पर मारी मारी फिरने वाली लड़की) स्थान दिला सकूगा ऐसी आत्माओं को जिनके स्वर्गारोहण के सवंध मे वहुत से भद्र लोग आश्वस्त है ।" जव मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया, उनकी इच्छाशक्ति का कोई मूल्य ही नही, रह गया । जो कुछ उन्होने किया सदसत्कर्म उसके लिये वे वाध्य थे तो उन कर्मो के लिए उन्हे दंडित कैसे किया जा सकता है, उनके लिये स्वर्ग का द्वार बन्द कैसे किया जा सकता है, उसे खोलना ही पड़ेगा 'केनापि दैवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' वाली वात हो गई तो मनुष्य दण्डित कैसे होगा । यदि दण्डित करना है तो उस देव को, नियम को दण्डित कीजिये ।

प्रायः सव प्रकृतवादी उपन्यासो मे मानव के अन्दर निवास करने वाले पशु का प्रदर्शन करना एक प्रिय विषय रहा है । किसी महान् संकट अथवा भयानक मानसिक उथल पुथल के अवसर पर मनुष्य में कितनी ही तरह की प्रतिक्रिया जग सकती है या तो वह तेजोदृप्त देवता वन जा सकता है अथवा पशु या जीवन विकास के इतिहास में यदि अन्य निम्न श्रेणियां हों तो वहां

पर भी घिसक जा सकता है। वह आगे बढ़ सकता है या पीछे हट सकता है। वह Superman बन जा सकता है या beast। यदि कोई प्रकृतवादी उपन्यासकार हुआ तो ऐसे अवसरों पर उसके पात्र मे पशुत्व की ओर घिसकने की प्रवृत्ति होगी। एक कहानी को लीजिये। शायद अमेरिका के प्रसिद्ध प्र० वा० उपन्यासकार नोरिस की है। कहानी का नाम है 'Lauth'। घटना पेरिस में घटती है। घटना के लिए पेरिस ही क्यों चुना गया। इसकी व्याख्या यही हो सकती है कि पेरिस सभ्यता का केन्द्र है। यदि पशुता यहां प्रवेश करेगी तो उसको देखना सहज होगा। खैर Lauth नामक एक छात्र को किसी झगड़े के अवसर पर सांघातिक चोट लगती है। वह अचेतन होकर गिर पड़ता है। एक डाक्टर उसकी शिराओं मे रक्त पम्प कर उसे जीवित करता है परन्तु उसकी आत्मा जो उसकी देह छोड़कर जाती है तो लौट कर नही आती। अत: उसकी आत्मा जीवन विकास की पिछली स्थितियों की ओर घिसकने लगती है। वह बन्दर बन जाता है फिर कुत्ता। इसी तरह घिसकते घिसकते वह Protozoa, Jelly fish तक पहुंच जाता है। प्रकृति मे होता है Evolution ऐसा डारविन ने प्रकृतवादियों को बतलाया था। पर यहा पर उसी को उलटकर Devolution बना दिया गया है। मनुष्य का जीवन विकास के साथ जटिल होता जा रहा है। ज्यो-ज्यों वह सभ्य होता जा रहा है, उसमे जटिलता आती जाती है। पर प्रकृतवादी उपन्यासो मे जटिलता को सरल Simple तरीके से समझने की प्रवृत्ति है। हम राष्ट्र की बातें करते हैं प्रकृतवादी के हाथों मे पड़कर राष्ट्र एक जाति बन जायेगी, जातिसमूह। सभ्य मनुष्य बर्बर बन जायेगें, बर्बर पशु और आगे बढ़कर वह कुछ रासायनिक द्रव्यो का संघातमात्र रह जायेगा।

प्रकृतवादियों की सारी फिलासफी डारविन के विकासवाद वाले सिद्धात से उधार ली हुई वस्तु थी और ये उपन्यासकार अपने पात्रों के जीवन का चित्रण करते समय विकासवाद के जैविक तथा भौतिक नियमों का ध्यान रखते थे। इस बात का ध्यान रखते थे कि इन नियमो का यथाविधि पालन किया जाय। माना कि जीवन को संचालित करने वाले कुछ सामाजिक नियम होते हैं। पर इन नियमों मे प्राकृतिक नियमो के जैसी कट्टरता नही होती, इनमे कुछ लचीलापन भी होता है, इधर से उधर होते रहने की गुंजाइश भी रहती है। पर प्रकृतवादी उपन्यासकारो के हाथ मे पडकर सामाजिक और जीवविज्ञानीय नियमो में कोई भेद ही नही रह गया। कहना तो यही चाहिये कि सामाजिक नियम रह ही नही गया। रह गये केवल जीव विज्ञान एवं

उसके नियम। जीव विज्ञान के क्षेत्र मे दो नियम प्रसिद्ध हैं (१) प्राकृतिक निर्वाचन (Laws of Natural Selection) (२) योग्यतम की अतिजीविता (Survival of the fittest) इन्हे सामाजिक नियम मान लिया गया। वास्तव में समाज, जिसे सभ्यता भी कह सकते हैं और प्रकृति बहुत दूर तक एक रहते भी, परस्परविरोधी वस्तुये हैं। जब हम प्रकृति को पराजित करते हैं, उसी के घर से अस्त्र लेकर उसी के विरुद्ध घुमाते है, तो हम सामाजिक होते हैं। इस वार से अपनी रक्षा करने के लिये मानो प्रकृति के हिमायतियों ने अर्थात् प्रकृतवादियों ने अपनी पैंतरेबाजी बदली और कहा कि जिसे हम मानवीय समाज कहते हैं वह भी प्रकृति है और उसी के नियमो से संचालित है।

प्रकृति और मानव के सघर्ष मे मनुष्य जीतता जा रहा था। विशेषतः साहित्य के क्षेत्र मे तो मानव और मानवीय संकल्प का महत्व बढ़ जाता था। "क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे" सत्वशील व्यक्ति असंभव को भी संभव कर सकता था। बात यहां तक बढी कि व्यक्तिमत्व के सामने प्रकृति को घुटने टेकना भी पडता था। यदि कही वह हारता भी था, ट्रेजिडी लिखी भी जाती थी, तो भी ऐसा लगता था कि मानव की हार मे भी जीत है, हार कर भी वह सुर्खरू है, जीतकर भी प्रकृति शर्म से गड़ी जा रही है। कहा है कि Tragedy is the affermation of man's importance त्रासदी मानव महत्व का दृढ़ाभिवचन है। मनुष्य का शरीर भले ही गिरे पर उसका सर तो झुकने से रहा।

इस ढंग से विचार करते समय एक दैनिक घटना की याद आती है। सूर्य नित्य प्रति उगता है और डूबता है। क्यो? प्रकृति की महिमा! उसके नियमों के आधार पर ही यह उत्थान और-पतन सभव है। यह एक प्राकृतिक बात हैं। प्रकृति विजयिनी, स्वामिनी है। पर कवि कहता है—

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

अर्थात् उदय के समय भी सूर्य लाल रहता है और अस्त के समय भी वह लाल ही रहता है। सम्पत्ति और विपत्ति दोनो अवसरों पर महान् पुरुष एक से रहते हैं। कहां गई प्रकृति की महत्ता। मानों कवि की एक फूंक ने प्रकृति के गिरि-मेरु को उड़ा दिया। प्रकृतवादी साहित्यकार ऐसा नही करेगा। वह समाज को ही प्रकृति बना देगा, कुछ अकाट्य नियमो से सचालित होते

रहने वाला पर प्रकृति का समाजीकरण नहीं करेगा 'अपि मासं मसं कुर्य्यात् छंदोभंगं न कारयेत् ।'

यही कारण है प्रकृतवाद के नाम पर जितने उपन्यास उपलब्ध हैं उनमे से थोड़े ही हैं जो पाठको की भावात्मक सत्ता पर अधिकार अक्षुण्ण रूप से कायम रखने में सफल रहे हो और थोड़ी बहुत सफलता जिन्हे प्राप्त भी हुई है वह प्रकृतवाद के कारण नही उसके वावजूद हुई है। प्रकृतवाद एक युगविशेष की मांग के रूप में आया था। और उसकी आवश्यकता भी थी। इसने लोगो को जीवन तथा उसकी समस्याओ पर निर्भीकतापूर्वक ईमानदारी से विचार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की, रूढिप्रियता का, निष्क्रियता का परित्याग कर लोगों को मानसिक गतानुगतिकता से उद्धार करने में योग दिया। परन्तु यह जिन मान्यताओं, दर्शन को आधार वनाकर चला उनमें आकर्षण तो था पर जीवन को समृद्धिशील वनाने वाले उन्नायक तत्व न थे। इस वाद के समर्थको मे प्रतिभा की कमी न थी पर उनके पैरों में प्रारंभ से ही ऐसी छान पड़ी हुई थी कि वह खुलकर दौड़ नही सकते थे। लोग अपने घोड़ों को छान कर घास चरने के लिये छोड़ देते हैं। वे घोड़े अवसर आने पर खूब तेजी के साथ दौडधूप कर भी लेते हैं पर फिर भी उनकी चाल में वह भव्यता कहां आ पाती है।

प्रकृतवाद की जीवविज्ञानसवंधी नियमों के प्रति वफादारी का ही परिणाम है कि ड्रेसियर के उपन्यासों मे परिगणना ने साहित्य का रूप धारण कर लिया है। जव वे एक किसी मकान के वर्णन मे उसकी छोटी-छोटी वातों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगते हैं तो पाठक का धैर्य साथ छोड़ने लगता है और वह ऊव जाता है, वोर हो जाता है। कोई भी सुसगत चित्र सामने नही आता। और आता भी है तो ऐसा लगता है खोदा पहाड़ तो निकली चुहिया। पाठक विस्तार की छोटी-छोटी अनर्थक भूल भुलैया में कुछ ऐसा उलझ जाता है कि उसे पता नही चलता कि उपन्यास की मुख्य कथा-वस्तु से इनका क्या संवध है और यदि सवध है भी तो कला के किस उद्देश्य की सिद्धि इनके द्वारा होती है। The Genius नामक उपन्यास के ७७ वड़े वड़े अध्यायों २५०००० शब्दो तथा ७०३ पृष्ठों को किसी तरह लांघ कर पाठक उस विन्दु पर पहुंचता है जहां कथा का अन्त [illegible] है [illegible]ड्रेसियर के एक सकेत पर कथा की प्रगति एकदम रुक जाती है और वे [illegible] साइन्स की उत्पत्ति, विकास तथा उसके आन्तरिक [illegible] वाते [illegible] लगते हैं। Mrs.

Althea Jones नामक महिला है जो झाड फूंक द्वारा लोगों के क्लेश शमन का व्यवसाय करती है। उसका मकान, कमरे तथा वहां के furnitures तथा वे व्यवस्थायें जो उसके आश्चर्यजनक व्यापारों मे सहायक होते हैं—इन सब बातों का वर्णन आरंभ हो जाता है। मकान सात मंजिला है, पुराने ढंग पर बना है, दो मार्गों मे विभक्त है, दोनों मे आने-जाने की राह है, बीच मे टेलीफोन है, इनमे लगी ईंटों का रग और इतिहास, टेबुल लैम्प का रंग और अभिकल्प ऐसा है। इन सूचनाओं का उपन्यास से क्या संबध है। आजकल के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे भी कथा कहने की जल्दी नही रहती, कथा ठहर जाती है पर उसकी धारा अन्तर्मुखी होकर उस ओर अत्यधिक प्रखर तथा तीव्र हो जाती है। बाहरी सतह पर स्थूलता की कमी मानसिक स्तर की सूक्ष्मता पर जाकर हर तरह से पूरी हो जाती है। पूरी ही नहीं होती परन्तु उसमे कुछ और भी नूतनता आ जाती है।

ड्रेसियर का दूसरा उपन्यास है The Financier उसमें असंगत बातों की वह रेलपेल है वह पहाड़ खड़ा किया गया है कि उपन्यास का सारा कचूमर ही निकल गया। Cowperwood पर न्यायालय मे मुकदमा चल रहा है। उस मुकदमे की रिपोर्ट इतनी तफसील मे दी गई है मानों किसी संसद की महत्वपूर्ण बैठक का समाचार अखबारों में प्रकाशित किया जा रहा हो। वादी तथा प्रतिवादी पक्ष के वकील की ओर से की गई बहस की एक-एक पंक्ति दी गई है, न्यायाधीश के फैसले की कापी भी दी गई है। इतना ही नहीं मुकदमे की अपील पर अपीलेंट कोर्ट मे न्यायाधीश की सम्मति भी दी गई है साथ ही असहमत रहने वाले न्यायाधीश की राय को भी परिशिष्ट के रूप मे उल्लेख करना लेखक नहीं भूला है। ड्रेसियर के सब उपन्यासों में इसी तरह का वातावरण परिव्याप्त है। Sister Carrie मे तफसील में जाने की प्रवृत्ति अवश्य कुछ कम है पर इसका कारण यह है कि किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने इसकी पुनरावृत्ति की थी। आज यह उपन्यास जिस रूप में उपलब्ध है अपने मौलिक रूप का आधा भाग है।

मतलब यह कि प्रकृतवाद उन्नीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक प्रवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित था और जब वह विज्ञान को साथ लेकर उपन्यास के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुआ तो वैसे उपन्यासो का निर्माण अवश्यम्भावी था जिन्हे हम प्रकृतवादी उपन्यासो के नाम से अभिहित करते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान मे तथ्य संकलन पहली शर्त है। इसका प्रथम कर्त्तव्य है कि वह तथ्य तथा

आंकड़ों का संकलन करे अधिक से अधिक संख्या मे। तत्पश्चात् उनके तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुंचे। जब विज्ञान उपन्यास के क्षेत्र मे पहुंचा तब वहां पर भी वही प्रवृत्ति सक्रिय रही। तथ्यों का स्तूप खड़ा किया जाने लगा। जीवन-व्यापार की व्याख्या करना, सारे संसारो के पीछे सक्रिय रहने वाली प्रवृत्ति को ढूंढना, एक ऐसे व्यापक तत्व को खोज निकालना जो इन सारे जागतिक प्रपंचों की बिखराहट को सार्थकता प्रदान कर सके—यह मानव की सहज प्रवृत्ति है विज्ञान भी यही करता है, साहित्य भी यही करता है। जब हमारे प्रकृतवादी कलाकारों ने विज्ञान के नेतृत्व में उसके द्वारा briefed होकर साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया तो जो सबसे पहली बात हुई वह यह थी कि जीवन के मूल्यों मे परिवर्तन हुआ।

मेरी दृष्टि में प्रकृतवादी उपन्यासकारों मे सबसे बडी त्रुटि यह थी कि वे सृजन के समय भी अपने को भूल नही सके थे, तल्लीन नही हो सके थे। यहां पर साहित्यदर्पण मे उद्धृत एक श्लोक की याद आ रही है।

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीविं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि॥

हमारी आदर्श नायिका वह है जो किंचिदपि स्मरण की कसम खाती है। विश्रब्धचाटुकशतानि वाली नही। यह भी सही है पहले आदर्श की प्राप्ति कठिन है। पर इतने से ही हम आदर्श की पताका को झुका सकेंगे ? यदि हमारा आदर्श ऊंचा रहेगा उसके आकर्षण से हम स्वयं ऊंचे खीचे जाते रहेगें। प्रकृतवादियों ने साहित्य की स्वायत्तता की पताका को झुकाया, इस क्षेत्र के नेतृत्व को भी विज्ञान के हाथों मे दिया। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान तो इससे लाभान्वित हुआ नही पर साहित्य की गरिमा मे ह्रास हुआ। प्रकृतवादी यह कह कर अपने चित्त को समाधान दे लेते हों कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक की तरह तटस्थ है और जीवनव्यापार पर जो कुछ निर्णय देंगे वह एक दम वैज्ञानिक निरावेग तथा नीति-निरपेक्ष होगा। परन्तु वास्तव में यह कुछ भी बात नही थी। वे एक तरह के विद्रोही थे। और वैसा विद्रोही जो परिस्थितियो के प्रतिक्रियास्वरूप क्षणिक विद्रोह के मैदान मे कूद पड़ता है। नही तो साहित्यिक सृजनशील कलाकार तो विद्रोही होता ही है। उसे विद्रोही कह कर मयूरों के पंख को रंगने से क्या लाभ।

चाहे हम कितना ही प्रयत्न करें हम तटस्थ द्रष्टा मात्र नही रह सकते। यह विज्ञान के क्षेत्र मे भी लागू है, साहित्य के क्षेत्र में तो यह 'लगन' और भी उग्रतर हो जाती है। वास्तव में प्रकृतवाद रूढियो के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आया था जैसी सब नई विचारधारायें आती हैं। उसकी कल्पना थी कि तत्कालीन चिन्ताधारा मे कुछ ऐसी मान्यतायें स्वीकृत हो गई हैं जो प्राकृतिक नही कही जा सकती हैं और जिनसे चिपके रहने से मनुष्य के विकास मे बाधा हो रही है। अतः हमें चाहिए कि हम उनका परित्याग कर हम कुछ ऐसे सिद्धांत अपनायें जो प्राकृतिक हो। प्राकृतिक क्या है इसके लिये वे अपने को ही प्रमाण मानते थे। अर्थात् प्राकृतिक वही जिसे प्रकृतवादी कहते हैं कि प्राकृतिक हैं। प्रकृतवाद कोई नया कार्य नही करता था। वाद के रूप मे उठी हुई सभी विचारपद्धतियों में यह कमजोरी पाई जाती है। हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से आन्दोलन चला था उसमे यही बात थी कि जब तक किसी साहित्यक को प्रगतिशील संघ का मन्त्री अपने सिद्धान्तों पर ठोक बजा कर न कह दे तब तक उसे प्रगतिशील नही कहा जाता था।

प्रकृतवादी उपन्यासकारों की रचनाओं में ऐसे प्रसंगों की भरमार है जिन्हे छोटे-मोटे निबन्ध कह सकते हैं जिनमें पाठकों को उपदेश दिये गये है। बताया गया है कि पाप क्या है और पुण्य क्या है। दृढता, स्वाभाविकता अपने तथा संसार के प्रति पूर्ण ईमानदारी, दूसरों के प्रति कोमलता और सहिष्णुता जैसे गुणो की प्रशसा की गई है। Hypocrisy असहिष्णुता, रूढिप्रियता, सत्य से मुंह मोड़ने को पाप, दुर्गुण कह कर निन्दित किया गया है। मतलब यह कि पाप और पुण्य मे ये भी विश्वास करते हैं। केवल परिभाषा बदल दी गई है। पाप वह है जिसे ये लोग पाप कहते हैं और पुण्य वह जिसे ये लोग पुण्य कहे। Taine ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक A History of English Literature की भूमिका मे भले ही कहा हो कि Vice and virtue are products like sugar and vitroil., प्रथमतः तो यह बात ही गलत है। यदि यह बात सही मान ली जाय तो साहित्य कला की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्येक सृजन में सृजक के आत्मतत्व की विजय का ही निर्घोष होता है, वह प्रकृति पर आत्मा की विजय है, भले ही सीमित क्षेत्र और समय मे हो। यद्यपि प्रकृति की अवहेलना नही की जाती पर प्रमुखता होती है कल्पना की ही। कथा साहित्य के पात्र साधारण मानव की तरह नही कथाकार के मस्तिष्क पर अवतरित होते हैं। दूध भले ही प्रकृति देती हो पर उसमे जामन कल्पना का

ओर से दी जाती है। अतः दही के रूप में जो साहित्य हमारे सामने आता है उसे हम दूध की कसौटी पर नही जाच सकते। उपन्यास के पात्र काल्पनिक होते है, उन्हे sugar और vitroil बना देना सचमुच उनके साथ अन्याय करना है। साहित्य और कला की दुनिया एक अलग और स्वतंत्र दुनिया होती है, वहां के नियम और कानून भी अलग होते हैं जिनके ही आधार पर उन्हें जाँचना चाहिये।

जोला ने साहित्य को वैज्ञानिक बनाना चाहा और मान लिया कि वैज्ञानिक नियम अटल, अकाट्य और शाश्वत होते है। वास्तव मे मनुष्य मे किसी शाश्वत अचल तत्त्व की मांग नैसर्गिक रूप से वर्तमान रहती है और इसी मांग की प्रेरणा से एक ओर विज्ञान की उत्पत्ति होती है और दूसरी ओर कला की। कोई शाश्वत सी लगने वाली वस्तु के हाथ आते ही विज्ञान झट से आत्मसमर्पण कर देता है और सीमित समय के लिये ऐसा व्यवहार करने लगता है मानो उसने सारा रहस्य पा लिया और उसके जानने के लिये कोई चीज रह ही नही गई। There is no mystery in the world. पर जोला ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि जिस विज्ञान की इतनी दुहाई देते है वह कितनी कच्ची नींव पर है। उदाहरणार्थ जोला ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास चक्र 'Rougon-Macqurt' में आनुवशिकता के प्रभावों का चित्रण किया है। इस आनुवंशिकता के सिद्धान्त के लिये उन्होने Dr. Prosper-lucas के ग्रंथ Treatise on Natural History को ही आधार बनाया है। पर डा० ल्यूकास के आनुवशिकता-विषयक अनेक सिद्धान्त भ्रामक प्रमाणित हो गये है। वास्तव में आनुवंशिकता, अर्थात् विज्ञान के सिद्धान्त अभी भी लिखने को बाकी है। कभी लिखे भी जायेंगे या नही पता नहीं। तब परिवर्तित होते रहने वाले सिद्धांतों को इतना महत्व देना और साहित्य को उसके प्रति आत्मसमर्पण करने के लिये कहना मूलतः गलत बात है। साहित्य बनाम विज्ञान का विवाद अब समाप्त हो जाना चाहिए जिस तरह आलोचना के क्षेत्र मे form बनाम content की लड़ाई समाप्त हो चुकी है। आलोचना ने अन्तिम निर्णय ले लिया है कि जब कोई व्यक्ति achieved content की बात करता है, तभी वह विशुद्ध आलोचक के रूप मे बोलता है, जब तक वह form और content को पृथक् पृथक् रूप मे देखता है, कहना चाहिये वह आलोचक के रूप में नही बोल रहा है। साहित्य साहित्य है विज्ञान विज्ञान। दोनों का क्षेत्र अलग अलग है। एक दूसरे का स्थान नही ले सकता।

EST is East, West is West and never the two shall meet. साहित्य का वैज्ञानिकीकरण वैसे ही निरर्थक है जैसे विज्ञान का साहित्यिकीकरण।

वास्तव मे जोला भी ऐसा करने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके थे। सिद्धांततः उनका वैज्ञानिक उनकी रचनाओं पर हावी होने का प्रयत्न भले ही करता हो और वे बड़े तत्परत्व के साथ उसका समर्थन भी करते हो पर उनके अन्दर का कलाकार चुपचाप निष्क्रिय होकर बैठा हो सो बात नहीं। जहां जोला के अनुयायियों को लोग भूल चले हैं वहां जोला के उपन्यासों की मांग अब भी वर्तमान है। मतलब यह कि उनके द्वारा मनुष्य की किसी गहरी मांग की पूर्ति होती है। और यह निश्चित है वह मांग भौतिक विज्ञान की नहीं है। पोप ने Heroic Couplet की पद्धति चलाई थी। सब आज महसूस करते हैं कि यह पद्धति कृत्रिम है, परन्तु फिर भी आज पोप की गणना प्रमुख कवियो मे की जाती है।

मेरा विचार है कि साहित्य मे जिस वैज्ञानिक मनोवृत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकृतवाद के द्वारा किया जा रहा था और साहित्य के प्रांगण मे एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना की जा रही थी वह कभी भी अधिक दिनों तक लोगों को आश्वस्त नही कर सकती थी और इस तरह की मनोवृत्ति मे श्रेष्ठ साहित्य तथा कला का सृजन नही हो सकता था। साहित्यकार को कही न कही थोड़ा कमजोर पड़ना ही है, उसमे कही न कही थोड़ी दया और माया रखनी ही है। मनुष्य में से इन कमजोरियों को निकाल दीजिये तो उसमें क्या रह गई मानवता। वह पत्थर क्यों न बन जाय। वह यथार्थवादी बने, बने पर वह रोमांटिक बनने का अधिकार कभी भी नहीं छोड़ सकता। वह आंखें खोलकर देखेगा अवश्य पर आंखें बन्द करके देखने से भी जो दिव्य दृश्य देखने को मिलते हैं वह कैसे भूल सकता है।

मैंने कहीं पढ़ा था कि विलियम जेम्स ने साहित्यकारों को दो श्रेणियों मे विभाजित किया था। दृढ-मति (Tough minded) और कोमल मति (Tender minded) जितने उद्वेग, धूम-धाम तथा जोशखरोश के साथ प्रकृतवादी उपन्यासकार वैज्ञानिक दार्ढ्य का प्रतिपादन करता है उससे पहली कल्पना तो यही होती है कि उसे दृढ़मति साहित्यकार की श्रेणी मे ही रखा जा सकता है। जिस ढंग से इन लोगों ने उग्रतापूर्वक अपने मत को उपस्थित किया है उससे कम से कम हमें तो यही लगता है कि वे झूठ बोलते है मिथ्या

प्रवचन करते हैं। मैंने एक जगह कहा ही है कि लेखक is a lier in a psycho-pathological sense and critic is the detector यदि मैं सच्चे आलोचक का कर्त्तव्य पालन करूं तो इस असत्य के पीछे छिपी वास्तविकता का पता लगाना ही होगा और तब पता चलेगा कि अरे यह तो कुछ नही। यह तो वही है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने कहा है Lady protasts too much एक नारी है, उसे अपने सतीत्व का बड़ा ही गर्व है। पर–पुरुष की छाया से भी वह परहेज करती है, जहा किसी नारी को किसी अन्य पुरुष से बातें करते देखा नहीं कि आसमान सर पर उठा लेती है। पर वास्तविकता तो यह है कि स्वयं उसका चित्त चंचल है और वह उस चंचलता का. दूसरों पर प्रक्षेपण कर शांति की सांस लेती है।

उसी तरह मुझे लगता है कि प्रकृतिवादी ऊपर से जितने ही tough दीखते थे, पाषाण की तरह मालूम पड़ते थे उनकी नैसर्जिक प्रवृत्ति उतनी ही tender थी. कोमल थी। वे रोमांटिक थे। अमेरिका के Norris, Dreiserइत्यादि तथा फ्रांस के zola इत्यादि सब प्रच्छन्न रूप से रोमांटिक थे। भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों को अच्छी तरह मालूम है कि शंकराचार्य ने बौद्धधर्म तथा बौद्ध दर्शन के उन्मूलन के लिये कितना प्रयत्न किया पर तिस पर भी उनके आलोचकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध ही कहा है। यह बात पहले भले ही विश्वसनीय नही मालूम पड़ती हो पर अब तो मनोवैज्ञानिक आलोक में इसे मान लेने मे कोई विशेष कठिनाई नही होनी चाहिये। जोला के सम्बन्ध मे विचार करते हुए एक बार नोरिस ने कहा था कि जोला स्वच्छंदतावादियो मे पमुख है "the Very head of the Romanticist प्रकृतवादी उपन्यासों में कहानी तो साधारण ही है, बल्कि साधारण से भी साधारण, अतिशय साधारण too ordinary पात्र भी वैसे ही हैं, परन्तु इनको लेकर जो घटनायें घटती हैं वे असाधारण हैं, भयानक है। भयंकर है, कल्पना के रग ने उनके रक्त को अधिक लाल बना दिया है और मृत्यु की छाया अतिरिक्त रूप से काली हो उठी है।

रोमाटिक कहलाने के लिये किन-किन गुणों का होना आवश्यक है यह कहना कठिन है। पर असाधारणता, विशालता, आतिशय्य तो है ही। रोमाटिक साधारणता, सतहीनता, चलताप्न, घुटमुटपन से कभी भी संतुष्ट नहीं होता। उसे कोई बड़ी चीज big thing चाहिये जहां उसे अपने वर्षा के लिये 'दुसअत' मिल सके। वहां पर Tea-cup tragedies की बात नही चल सकती।

इस विशालता, Bigness का आदर जितना प्रकृतवादियों ने किया है उतना और किसी ने भी नही। उनकी पृष्ठभूमि विशाल है, घटनाएं विशाल है और विशाल है उन्हे रूपायित करने वाली कल्पना। उनके उपन्यास लघु आकार के नही है जो कुछ घटो मे या कुछ दिन में पढ़कर रख दिये जायं। वे वृहदाकार हैं, बड़ी लम्बी चौडी कहते हैं, तीन जिल्दो में समाप्त होते हैं। कहा जाता है कि नॉरिस से पूर्व केवल J. F. cooper अपनी पुस्तक The Little Page Manuscripts तीन जिल्दो में पूरी की थी। बाद मे Trilogy की बाढ सी आई और दर्जनों Trilogies लिखी गई। इतना ही नही Tetralogies Pentalogies की भी रचना हुई। हिन्दी मे शायद इस तरह के उपन्यास नही लिखे गये। पर यशपाल का 'झूठा सच', अश्क का 'गिरती दीवारें', 'शहर मे घूमता आइना', भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र', अमृतलाल का 'बूद और समुद्र' मे इस विशालता के दर्शन अवश्य होते है।

जिस रेट से प्रकृतवादी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों का प्रणयन किया वह आश्चर्यजनक है और उनकी विशालता का ही द्योतक है। प्रतिवर्ष एक उपन्यास की रचना किसी के लिये पर्याप्ति संतोपजनक तथा श्लाघनीय कही जा सकती है परन्तु प्रकृतवादियों की विशालता को इस रफ्तार से कुछ भी संतोप नही था। Harold Fredric प्राय: 4000 शब्द प्रतिदिन लिखा करते थे और बिना सशोधन किये ही सारी सामग्री प्रेस में छपने के लिये भेज देते थे। Jack London के लिखने की गति प्रतिदिन 1000 शब्दों की थी। १७ वर्षों मे उन्होंने ५१ पुस्तको की रचना की। Darvid Graham ने दश वर्षो (१९०१–११) के बीच १६ पुस्तकें लिखी और परलोक यात्रा करने से पहले ६ पुस्तकों की पाण्डुलिपि छोड़ गये जो बाद में प्रकाशित हुई। Upton Sinclair की कथा और भी विचित्र है वे प्रतिदिन १८००० शब्द लिखते थे। उनके तीन सैक्रेटरी सदा ही व्यस्त रहा करते थे। इस तरह असाधारणता को रोमांटिक ही कहा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रकृतवादी उपन्यासकार प्रकृतित: Masochist थे अर्थात् उन्हे अपने को पीड़ित करने में आनन्द मिलता था। यह गलत धारणा है कि प्रकृतवादी की नैतिक भावना दृढ नहीं थी। नही, पाप पुण्य, सु और कु की उनकी अपनी सहिता थी जिसकी बार-बार उन्होने दुहाई दी है। वे प्रकृति को निर्दय के रूप में चित्रण जरूर करते थे जिसके पजे रक्त से लाल हो पर वे चाहते थे कि प्रकृति को सदय होना चाहिये।

वे चाहते थे कि पुण्य कार्य को यहीं पर इसी जगत में पुरस्कृत होना चाहिये, उसके पुरस्कार को प्राप्त करने के लिये स्वर्गारोहण की आवश्यकता न हो। अन्याय और कुरूपता से उनके हृदय को चोट लगती थी। उनके साहित्य में जो कुरूपता, बीभत्सता, वेदना की अतिरंजित विवृति मिलती है उससे तो यही लगता है कि वे जानबूझकर ऐसी परिस्थितियां उपस्थित करना चाहते थे कि जिनके आघात से उनका हृदय पुन-पुनः घायल हो सके और वे उस वेदना का आनन्द ले सकें।

कोई अपनी प्रेयसी को नष्ट करना नही चाहता, सब उसके कृपा-कटाक्ष के भिखारी होते है, चाहते हैं कि वह सदा प्रसन्न रहे। पर एक उर्दू के शायर थे जो अपनी माशूका को जानबूझ कर चिढा देने मे ही आनन्द लेते थे कि यदि वह रूठ जायेगी तो उसे मनाने का मौका तो मिलेगा। आप ही वतलाइये कि कौन सच्चा प्रेमी है। पहला या दूसरा। मैं दूसरे को ही प्रणय-परीक्षा मे अधिक अंक दूंगा। मेरी कल्पना में प्रकृतवादी उपन्यासकार इसी दूसरी श्रेणी के आशिक थे। वे जीवन का चित्रण करते समय उस पर अधिक आवेष्टन इसलिये भी चढ़ा लेते थे कि उन्हें नोचनोच कर उतार फेकने में जो वेदना होती है उसका आनन्द ले सकें।

८

साहित्य और जीवनवृत्त

साहित्य के अध्ययन के लिए कितनी ही पद्धतिया प्रचलित हैं। कोई साहित्य पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करता है—कोई सामाजिक से, कोई आर्थिक से, कोई साहित्यिक से, कोई मनोवैज्ञानिक से। सब के द्वारा हमें आलोच्य वस्तु के सत्स्वरूप .के समझने में सहायता मिलती है, उसके छिपे पहलू पर प्रकाश की किरणें पड़ती हैं और वस्तु–विषयक ज्ञान की गहराई में हम ज्यो-ज्यों पैठते जाते हैं हमारे आनन्द की अभिवृद्धि होती है, चित्र का विस्तार होता है। नर्तकी जब स्टेज पर अपने तरल-गतित्व अङ्गसंचालन-चांचल्य से दर्शको को मुग्ध करती हुई आती है तो उस पर तरह-तरह के रंग-विरंगे प्रकाश की किरणें फेंकी जाती हैं। नर्त्तकी भी वही है, उसके अंगों की संचालन-गति में भी कोई अन्तर नही, वातावरण भी वही है पर प्रक्षिप्त प्रकाश के रंग-विभेद के कारण कितने छिपे रहस्य प्रकट होने लग जाते हैं, नई नई बातें सामने आने लग जाती हैं और हमारे रसास्वादन मे अपूर्व समृद्धि आ जाती है। अपने ताल, लय और सुषमा के साथ वस्तु रचना पाठको के सामने है, रचना वही है पर ऐतिहासिक (दृष्टिकोण) ने रघुवश, कुमार सम्भव मे न जाने क्या-क्या रहस्य दिखला दिये। इतिहास ने रघु की दिग्वि-जय को समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा से मिला कर देखने की प्रेरणा दी तो सचमुच हृदय को आश्चर्य-युक्त प्रसादन प्राप्त हुआ। उसी तरह अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र के भी हम कम कृतज्ञ नही है।

साहित्य के अध्ययन के इन विविध दृष्टिकोणों मे एक जीवन वृत्ता-त्मक दृष्टिकोण भी है; जिसको अंग्रेजी के कुछ शब्दो के सहारे Auto-biographical point of view भी कह सकते हैं। इस मे लेखक के जीवन वृत्तान्त के आलोक मे उसके साहित्य के सत्स्वरूप को समझने की चेष्टा की जाती है। पहले लेखक या कवि के जीवन-वृत्त का अध्ययन किया जाता है, देखा जाता है कि किस परिवार में उसका जन्म हुआ, कैसी परिस्थितियो का

उसे सामना करना पड़ा, उसकी अवस्था में क्या-क्या परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों का प्रतिविम्व कहां तक उसकी कृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। इसका अच्छा उदाहरण कबीर या सूर का साहित्य हो सकता है। कबीर का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जो चारों ओर से तिरस्कृत था, उनके जीवन के अनुभव बडे कटु थे। अतः उनकी वाणी आक्रोशमयी हो गई, भाषा सीधा प्रहार करने वाली हो गई, उनके सारे साहित्य मे उनके हृदय की कटुता परिलक्षित होती है। सूर उच्च कुल मे उत्पन्न हुए, उन्हें सामाजिक अपमान का शिकार होना पड़ा। अतः उनकी वाणी की सौम्यता नष्ट नही होने पाई।

इसी तरह केशव के काव्य की विशेषताओ को, उनके आचार्यत्व को, उनके पात्रों की वाक्चातुरी को, उनकी अलकार-प्रियता को, केशव के राजसी वैभव तथा दरवारी जीवन से मिलाकर देखने की चेष्टा की गई है। आलोचकों ने कहा ही है कि केशव को सदा राज-दरवार में रहना पड़ता था, वहां के आचार-विचार का सदा ध्यान रखना पड़ता था, वे जानते थे कि राज-दरवार मे किस तहजीव से वातचीत की जाती है, वहां कट्टर विरोधी से भी वार्तालाप के प्रसंग में एक मर्यादा का पालन करना पड़ता है। यही कारण है उनके अगद, रावण से वार्तालाप करते समय तुलसी के अंगद की भांति उच्छृङ्खल नही हो गये हैं! मर्यादा का अतिक्रमण नही कर गये हैं! उनकी भाषा मे एक सभ्य शिष्ट राजदूत का वांकपन है।

साहित्य के अध्ययन पर, एक दूसरे ढंग से विचार करें तो तीन पद्धतियां हो सकती हैं। प्रथमतः तो यह कि हम बाह्य परिस्थितियों, उदाहरणार्थ, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो की ओर से साहित्य पर विचार करें। हमारा दृष्टिकोण यह हो कि इन अमुक परिस्थितियों के कारण ही अमुक तरह के साहित्य की सृष्टि हो सकी है। इसमे सारी सृजन प्रक्रिया की वागडोर परिस्थितियो के ही हाथ मे रहती है। दूसरी पद्धति यह है कि हम साहित्य के माध्यम से ही परिस्थितियो की ओर झांकें। कल्पना कीजिये कि प्रेमचन्द-कालीन युग का इतिहास सर्वथा लुप्त हो गया है। कोई भी दूसरा साधन नही है, जिसके द्वारा हम उस समय की सांस्कृतिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर सकें। केवल प्रेमचन्द का ही साहित्य, उनकी कहानिया तथा उपन्यास उपलब्ध है। यदि हम चाहें तो इन पुस्तको के सहारे उस युग का एक अच्छा इतिहास तैयार

कर सकते हैं, उस समय के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन का चित्र तैयार कर सकते हैं।

तीसरी पद्धति वह है जो किसी रचना पर विचार करते समय उसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, निरपेक्ष, स्वतः पूर्ण रूप में विचार करने की संस्तुति करती है। इसके अनुसार किसी रचना को उसके रूप मे ही न देखकर उसे अन्य अवान्तर बातो से सम्बद्ध करके देखना समस्या को और भी उलझा देना है। हमारा सारा ध्यान Text पर, शब्दों पर केन्द्रित होना चाहिये। हम जब किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते है तो हमारा ध्यान व्यक्ति के विशुद्ध रूप पर ही रहता है। हम उसके परिवार की ओर तथा उसके जन्म के इतिहास की ओर नही देखने जाते। हम यह नही देखते कि यह व्यक्ति वैध पुत्र है या अवैध, धार्मिक रूप से अनुमोदित वैवाहिक सम्बन्धों से इसकी उत्पत्ति हुई है अथवा यह व्यक्ति कामोन्माद-जन्य स्वच्छन्द सम्मेलन की उपज है। हमारे सामने व्यक्ति साक्षात् रूप मे उपस्थित है, उसके सारे कार्यकलाप हमारी आखो के सामने हैं, हम इन्ही बातो के आधार पर अपना मत निश्चित करेंगे। आजकल नई आलोचना (New Criticism) के नाम से जो आलोचना प्रचलित हो रही है वह यही करती है। यह सब कुछ छोड़कर रचना की आन्तरिक सगति (internal consistency) पर विचार करती है।

इन तीन आलोचना पद्धतियो मे से प्रथम पद्धति साहित्य-रचना से कुछ भयभीत सी मालूम पडती है। वह साहित्य से मेलजोल वढाना तो चाहती है, उसे समझना भी चाहती हे पर मन ही मन कुछ डरी सी भी रहती है। अतः सीधे उसके पास न जाकर अपने साथ अनेक सहकारी मित्रो को भी ले लेती है। इतिहास, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जितने भी सहायक हो सकते हैं और जिस किसी की भी सहायता उसे प्राप्त हो सकती है, उसे साथ लेकर पैंतरेबाजी करती हुई, ललकारती हुई साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करती है। वहां पहुंचते ही उसकी यात्रा समाप्त हो जाती है। मानो वह मंजिले मकसूद पर पहुंच गई। दूसरी पद्धति ठीक इसके विपरीत है। प्रथम पद्धत्ति की यात्रा जहां समाप्त हो जाती है उसी स्थल से दूसरी पद्धति की यात्रा प्रारम्भ होती है। उसके चरण साहित्य के क्षेत्र में पहले से ही जमे रहते हैं। उसको ही base बनाकर वह दूसरे क्षेत्रों की ओर अग्रसर होती है। पहली पद्धति दूसरे देशो से सैनिक सधि कर, उनकी सेना को लेकर साहित्य के क्षेत्र पर आक्रमण करती। दूसरी पद्धति दूसरे राष्ट्रों से सैनिक मैत्री नही करती। वह अपने ही

देश की सारी शक्तियों को संगठित करती है, Conscription की आज्ञा प्रचारित करती है, प्रत्येक योग्य तथा सक्षम नवयुवक को सेना में भर्ती करती है, उन्हे सैनिक शिक्षा देती है। इस तरह सुसज्जित हो, राष्ट्रीयता के भावों से उमगती हुई सेना को लेकर वह अन्य क्षेत्र की ओर बढती है, चाहे वह क्षेत्र इतिहास का हो, अर्थशास्त्र का हो, मनोविज्ञान का हो अथवा जीवनवृत का।

पहली पद्धति दूर से चलकर साहित्य के क्षेत्र में आकर विश्राम लेती है, दूसरी पद्धति साहित्य के क्षेत्र से चलकर दूर देश की यात्रा करती है। तीसरी पद्धति इन दोनो से पृथक् है। वह साहित्य क्षेत्र की है और उसी की होकर रहती है। वह अपने पूरे ध्यान को रचना की शब्दावली पर ही केन्द्रित करती है। वह न तो साहित्य के क्षेत्र मे ही किसी विदेशी वस्तु को लाने की चेष्टा करती है और न साहित्य को ही विदेश भ्रमण करने के लिए ले जाना चाहती है। वह कहती है कि हमे अपने क्षेत्र को छोड़ कर इधर-उधर जाने की कोई जरूरत नही। यदि हम कही दूर देश से चल कर आयें भी हों, तो साहित्य के अमृतकलश की एक घूंट से ही तृप्त होकर हम अन्य सारी बातों को भूल जाते है; या हमे भूल जाना चाहियें और इस तरह अन्य बातों के ज्ञान का प्रश्न साहित्य के मूल्यांकन के समय उठता ही नही।

इन तीनो पद्धतियो मे से यहां हमारा सम्बन्ध है दूसरी पद्धति से; जो साहित्य के क्षेत्र में पांव जमा कर दूसरे क्षेत्रों की ओर आगे बढती है। हम यह देखना चाहते है कि हम कृति के आधार पर कृतिकार तक पहुँच सकते हैं या नही, उसके जीवनवृत्त का पुनर्निर्माण कर सकते हैं या नही। कृतिकार के जीवनवृत्त की सीमा तो बहुत व्यापक हो जाती है, उसके व्यापकत्व के क्षेत्र मे तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक इतिहास भी आ जाता है कारण कि जीवन की घटनाओं के स्वरूप निर्धारण मे तो परिस्थितियों का हाथ अनिवार्यतः रहता ही है। परन्तु हम अपने को इतनी बड़ी परिधि के फैलाव मे नही रखेंगे। हम अपने को मनोविज्ञान तक ही सीमित रखेंगे, उन्ही घटनाओं को लेंगे जिनका साक्षात् सम्बन्ध व्यक्ति के मानसतत्व, उसकी मानसिक प्रक्रिया से है अथवा जिन्हे सहज ही किसी मानसिक शक्ति के कारण कार्य-शृंखला मे बैठाकर देखा जा सके।

एक बार अलवर मे राजस्थान साहित्य अकादमी की उपनिषद् मे, हिन्दी के एक प्रमुख कथाकार जब उद्घाटन भाषण दे रहे थे, तो मैंने देखा कि श्रोतागण मे से कुछ लोग अपनी हथेलियो में कुछ पुष्पों को लेकर मसल

रहे थे, कुछ फूलों की पखुडियों को छिन्न-भिन्न कर रहे थे, कुछ लोग फूलों को उछाल रहे थे। इसी तरह अनेक व्यक्ति भाषण-श्रवण के साथ साथ अनेक तरह के व्यापारो मे मग्न थे; जिनका भाषण-श्रवण से कुछ भी सम्बन्ध नही हो सकता था। पर ये क्रियायें कुछ ऐसे सहज ढग से हो रही थी मानों उन श्रोताओं को इस असंगति का आभासमात्र भी न हो। मुझे तुरन्त कालिदास की पार्वती याद आई।

एवं वादिनि देवर्षौ पितुः पार्श्वे अधोमुखी।
लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती।

अर्थात् जब देवर्षि नारद पार्वती के विवाह की चर्चा हिमालय से कर रहे थे तो उस समय अपने पिता के पार्श्व मे खड़ी अधोमुखी पार्वती कमल की पंखुड़ियों को गिन रही थी। यहा पर लीला-कमल-पत्रो की गणना करना एक घटना है! जीवनवृत्त है!! घटना को सहज ही पार्वती के मनोविज्ञान के संदर्भ मे देखा जा सकता है। एक मनोवैज्ञानिक सहज ही मे पार्वती की जीवन-कथा को इस व्यापार से मिला कर देख सकता है। इसमे एलेक्ट्रा ग्रंथि अथवा जितनी भी Defense Mechanism की बाते आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओ ने बताई हैं उनका कच्चा चिट्ठा उघाड़ कर रख सकता था।

वह पूछ सकता है कि पार्वती ने अपने को कमल की पखुड़ियों की गणना तक ही क्यो सीमित रखा? वह और कुछ भी तो कर सकती थी? वहां से टल ही जाती; ऐसे अवसर पर कुमारियां ऐसा ही करती आई हैं। अथवा यदि वहां से टली नही तो पैर के अंगूठों से धरती को कुरेदने भी लग सकती थी? दांतों तले अंगुली भी तो दबा सकती थी? वह भोलीभाली नही थी कि उसको कुछ ज्ञान भी नही था। हमने देखा है उस तरुणार्कराग वस्त्र धारण करने वाली पुष्पस्तवकावनम्रा को, संचारिणी पल्लविनी लता को, नितम्ब से भ्रस्त होने वाली कनकदाम कांची को पुनः पुन' सम्भालती हुई, अपने मुख के फेरे देने वाले भ्रमरो को निवारण करती हुई विचित्र भाव भगी से शंकर की पूजा करने जाने वाली पार्वती को। अतः एक मनोविज्ञानवेत्ता इसी घटना के सूत्र के सहारे पार्वती के जीवन-वृत्त की कल्पना कर सकता है। वह कह सकता है कि एक बार पार्वती जब अपने पिता की पूजा के लिए उद्यान मे पुष्प लाने गई तो उसने पुष्पस्तवकों पर भ्रमर और भ्रमरियों को परस्पर अनुगमन करते देखा तो इतनी विभोर हो गई कि पुष्पों को चुनना भूल गई, किसी अज्ञातावेश में मग्न हो बैठ गई। इधर हिमालय की पूजा के

समय का अतिक्रमण होने लगा तो लोगों ने जाकर देखा कि पार्वती किसी पुष्पलता के नीचे भावमग्न अवस्था मे बैठी है। यदि पार्वती के साथ यह घटना नही घटी हो तो कालिदास के साथ ही सही।

दुर्भाग्य से हमे कालिदास या पार्वती की विस्तृत जीवनकथा प्राप्त नही है। यदि प्राप्त होती और उनके जीवन की एक-एक घटना का पता होता तो हमें यह लीला-कमल-पत्र की गणना को वहां देख लेना कठिन भी नही होता। पर ये लोग जो भाषण के समय तरह-तरह के व्यापारों में मग्न थे, उनकी जीवनी तो प्राप्त है। यदि प्राप्त नही है तो उसे प्राप्त किया जा सकता है। उन्हे विश्वास मे लेकर उनसे बाते पूछी जा सकती है। यदि वे नही बताते हैं तो एक कुशल जासूस की तरह हम उसका पता लगा सकते हैं। यह सारा जीवन अभिव्यक्ति है। हम सब अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं। कोई किसी तरह, कोई किसी तरह। कोई लिख कर अभिव्यक्त कर रहा है, तो कोई चोरी डकैती कर, तो कोई नेता या उपदेशक बन कर। गांधी भी अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिन्ना तथा भगतसिह भी; इन लोगों को अभिव्यक्ति में पा लेना कठिन नही है।

आप अपने जीवन में दो तरह के व्यक्तियों के सम्पर्क में आये होंगे। एक व्यक्ति है, बड़ा परिश्रमी है, जी तोड़कर परिश्रम करता है, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आकाश-पाताल के कुलावे एक कर देता है। पर अपने कृतित्व तथा उपलब्धि से उसे कभी भी सन्तोष नही होता। उसके मन मे सदा यह भावना बनी रहती है कि संसार ने उसके परिश्रम तथा प्रतिभा का यथोचित सत्कार नही किया। उपेक्षा का डर उसके हृदय को सदा कचोटता रहता है। दूसरी ओर आप ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क मे भी आये होगे जिन मे अद्भुत आत्म-विश्वास होता है। वे परिश्रम नही करते, साधना का कष्ट उठाना उन्हें अच्छा नही लगता, पर साथ ही उनकी इच्छा यह होती है कि सफलता उनके पैर चूमे, उनकी इच्छा की पूर्ति तुरत हो जाय; और उनकी इच्छा पूरी भी होती है! अथवा जो कुछ भी उपलब्धि होती है, उसे ही वे इच्छा की पूर्ति मान लेते हैं।

यदि आप मनोवैज्ञानिक हैं, मनुष्य के कार्यकलाप जो रूप धारण कर लेते हैं, उनके रूप के निर्माण के मानसिक रहस्यो के ज्ञाता हैं तो आपको कल्पना कर लेने में कोई भी कठिनाई नहीं होगी कि प्रथम मातृ-दुग्धवंचित बालक है। जब वह बालक था तो इसे मातृ-हीन जीवन व्यतीत करना पड़ा

था; अथवा यदि माता जीवित भी थी तो उसके स्तनों में दूध की कमी थी बालक विचारा दूध के लिए बहुत रोता था, हाथ पैर पटकता था, तब कहीं उसे थोड़ा दूध मिलता था। जो दूध मिलता भी था, उसमे माता के स्तनों की उष्णता न थी, बोतल की ठंडक तथा निर्जीवता थी। आज भी वह Bottle-fed-baby ही बना हुआ है।

दूसरी और दूसरे व्यक्ति की कहानी दूसरी हो सकती है। वह स्वस्थ माता का पुत्र था, माता के स्तनों मे दुग्ध की धारा प्रवाहित होती रहती थी। जहां उसने संकेत किया कि दूध भरे गर्म-गर्म स्तन उसके लिये उपस्थित हैं, उसके लिए उसे जरा भी परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। आज भी उसी तृप्त बालक की तरह वह व्यवहार कर रहा है। चाहा है कि सारी दुनियां उसके संकेतों पर नाचे, और दुनियां नाचती भी है।

इस तरह के अध्ययन, अंग्रेजी साहित्य मे बहुत उपस्थित किये गये हैं। रावर्ट लुई स्टेवेन्सन की एक प्रसिद्ध पुस्तक है Dr. Zekyll and Mr. Hyde. इसमे एक ऐसे व्यक्ति की कथा कही गई है, जो दुहरे व्यक्तित्व का था। एक व्यक्तित्व सभ्य, सौम्य तथा मानवीय गुणों से परिपूर्ण था, दूसरा शैतान था, राक्षस था, नारकीय कृत्यों का पुंज। जब एक दवा खा लेता था, तो दूसरे व्यक्तित्व की स्थापना हो जाती थी और पहला व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता था। मनोवैज्ञानिकों ने कहा है, हो न हो स्टेवेन्सन की यह कथा उसके बाल्यकालीन जीवन की कथा से सम्बद्ध है, जिसने उसे अपनी कल्पना को इस ढंग से ढालने को प्रेरित किया। स्टेवेन्सन को मां का दूध भर पेट पीने को नहीं मिला था, वह बराबर दूध के लिए तरसता रहा। यही कारण है कि उसके उपन्यास मे प्रीतिभोजो और भोजन समारोहों के वर्णन की भरमार है। इस उपन्यास की मुख्य धुरी कोई पेय पदार्थ है, जिस पर कथा का चक्र घूमता रहता है। स्टेवेन्सन अपने बाल्यकालीन ग्रन्थियो से मुक्त नहीं हो सका है, शायद कोई भी नहीं हो सकता; और आज भी अपनी मौखिक मांगो की पूर्ति प्रकारान्तर से कर रहा है। स्टेवेन्सन की जीवनी लेखकों ने पता लगाकर देखा है कि मनोवैज्ञानिको के द्वारा सुझाई गई ये बातें गलत नहीं। जब वह बालक था तो उसकी मां एक डायरी रखती थी जिसमे उल्लिखित बातो से इन बातों का समर्थन होता है।

शेक्सपियर के जगविख्यात दुःखांत नाटक 'हैमलेट' की कहानी प्रसिद्ध है। अपने पिता की हत्या करने वाले व्यक्ति से बदला लेने के लिए तथा उसके

वध करने के लिए हैमलेट प्रतिश्रुत है। चाहता है कि किसी तरह वह पितृहन्ता की हत्या कर डाले। पर फिर भी उस पर कुछ ऐसी लाचारी है कि वह अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नही कर पाता। कोई ऐसी अदृश्य शक्ति है जो उसे ऐसा करने से रोकती है। ऐसा क्यों है ? इसके विरोधाभास के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक व्याख्यायें दी गई हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हैमलेट वैसे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी बौद्धिकता क्रियात्मक शक्ति को चर गई है अर्थात् कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो चिन्तन मे इस तरह डूबे रहते हैं कि काम करने की उनकी शक्ति जाती रहती है। हैमलेट ऐसा ही व्यक्ति है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि इस नाटक में, शैक्सपियर ने मनोविकार-ग्रस्त तथा सकल्पहीन व्यक्ति का चित्रण किया है जिसे न्यूरेस्थेनिया का रोग है। ऐसे ही 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की तरह, जितने विचारक उतने ही मत।

परन्तु सबसे विचित्र, पर विश्वासोत्पादक मत मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वालों का है। उनका कहना है कि यह कहना कि हैमलेट मनोविकारग्रस्त तथा सकल्पहीन न्यूरेस्थेनिक व्यक्ति है सत्य का अपलाप है, क्योंकि इस सिद्धान्त का समर्थन हैमलेट के अन्य क्रियाकलापो से नही होता। हैमलेट निश्चेष्ट अकर्मण्य व्यक्ति नही है, क्योकि अवसर आने पर दो-दो तीन-तीन व्यक्तियों की हत्या करने मे उसे जरा भी हिचक नही। तब क्या कारण है कि वह यही पर कच्चा पड़ जाता है। पिता की मृतात्मा ने हैमलेट को अपने हत्याकारी से प्रतिशोध लेने की शपथ दिलाई है। इस पर भी वह कार्य पूरा नही कर सकता तो एक मात्र कारण यही है कि इस कार्य का रूप ही कुछ ऐसा था, जिसे वह कर नही सकता था। *जिस व्यक्ति ने उसके पिता की हत्या की और उसकी* मा के साथ विवाह कर वह मा के साथ उसी रूप मे सम्बद्ध हो गया जिस रूप मे उसका पिता था; उसकी हत्या न करने में उसे कोई न कोई आन्तरिक विवशता थी।

यदि इडिपस ग्रन्थि वाले सिद्धांत के सन्दर्भ मे विचार किया जाय तो पता चलेगा कि पिता के हत्याकारी ने, उसकी वाल्यकालीन प्रच्छन्न इच्छा की पूर्ति की है। वाल्यकालीन अवस्था मे वह अपने पिता को मातृप्रेम के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे देखता था, समझता था कि वह पिता माता की प्रेमोपलब्धि मे बाधक है। अतः उसको किसी न किसी तरह यहा तक कि हत्या के द्वारा भी अपने मार्ग से हटा देना चाहिये। आज एक दूसरे व्यक्ति ने प्रकारान्तर से

उनकी ही इच्छा की पूर्ति की है तो उसके विरोध में उसकी हत्या को वाह् कैसे उठे भला। अतः यहां हम शेक्सपियर अर्थात् हैमलेट के निर्माणकर्ता के मनोविज्ञान के सीधे सम्पर्क मे आते हैं। हम यह देखते हैं कि हैमलेट की रचना शेक्सपियर के पिता की मृत्यु के दिनों के समीप हुई है अर्थात् उन दिनों में जब वह अपने पिता की चैत्यिक क्रिया से निवृत्त भी नहीं हुआ था। यह एक ऐसा अवसर है जब कि पिता के सम्बन्ध को लेकर हमारे मस्तिष्क में जितनी अज्ञात शक्तियां या प्रेरणायें होती हैं वे सक्रिय हो जाती हैं। मैकवेथ के निर्माण का आधार भी हैमलेट की तरह संतानहीनता ही है। यह भी जानी हुई बात है कि शेक्सपियर का एक पुत्र था जो बाल्यकाल में ही मर गया था। उसका नाम हैमनेट था। हैमनेट और हैमलेट में कितनी समानता है। अतः शेक्सपियर की जीवनी से प्राप्त मनोविज्ञान का प्रतिबिम्ब स्पष्टतः उसकी रचनाओं मे दीख पड़ता है। वे पारस्परिक सहयोग से एक दूसरे की सहायता कर रहे हैं। कालिदास के शब्दों मे "अन्योन्य-शोभा-जननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्य भावः।"

प्राचीन काल के लेखकों की विशुद्ध जीवनी का पता लगाना कठिन है। लोगों में ऐतिहासिक बुद्धि का इतना विकास नही हो सका था। अतः उनकी कृतियो के आधार पर उनके जीवनवृत्त के Pattern की खोज तो की जा सकती है। पर हमारे सामने कोई ठोस आधार नही है जिसके सहारे उनकी सत्यता की जांच की जा सके। पहले तो सब महान् आत्माओ की जीवनी का ढाचा एक ही तरह का होता था। महावीर और बुद्ध का जीवनवृत्त एक ही तरह का है। बचपन से ही उनमे प्रतिभा के बीज परिलक्षित होने लगते हैं। कुछ सन्त प्रारम्भ मे घोर कामासक्ति के शिकार रहेगे। बाद मे किसी महात्मा के सम्पर्क से अथवा किसी प्रभावशाली घटना से उनके हृदय में ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उनके जीवन का प्रवाह ही बदल जायेगा।

पर अब परिस्थितियों में परिवर्तन आया है। लोगो के विस्तृत जीवन वृत्त की कथा को सुरक्षित रखने की ओर लोगो का ध्यान गया है। न्यूयार्क के हाइड पार्क मे एक पूरा पुस्तकालय ही है जिसमे Franklin Delano Roosevelt की जीवनी तथा उसके समय से सम्बन्धित सामग्री भरी पड़ी है। चर्चिल वगैरह ने स्वय ही अपने वृहद सस्मरण लिखे है पर फिर भी उनके जीवन पर प्रकाश डालने वाली इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उसे भी रखने के लिए एक बहुत बड़े पुस्तकालय की आवश्यकता पड़ेगी। ऐसी अवस्था में

लेखकों के साहित्य की राह से होकर उनके जीवनवृत्त की ओर बढ़ना उतना भयावह नहीं है। मनोविज्ञान से जो कुछ संकेत मिले दूसरे साधनों के द्वारा उनकी सत्यता की परीक्षा की जा सकती है।

जब मैं "आधुनिक हिन्दी साहित्य और मनोविज्ञान" नामक शोध प्रबन्ध के लिए सामग्री एकत्र कर रहा था तो मेरे पूज्य निरीक्षक आचार्य प्रवर डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जी ने सुझाव दिया था कि कथाकारों की रचनाओं के आधार पर उनके मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाय। मतलब यह कि हमारा दृष्टिकोण एक मनोविश्लेषक का हो जो अपने रोगियों के विकार के मूलोद्गम का पता लगाने के लिए उनकी क्रियाओं का, व्यवहारों का, अंग संचालन का, भूलों का, जीभ की फिसलन का, उनके स्वप्नों का सूक्ष्म अध्ययन करता है, मुक्त आसंग वाली पद्धति से उपलब्ध बातों पर विचार करता है, और सब की संगति बैठाकर अपना मत निश्चित करता है। उसी तरह हम कथाकार की कृति को इस तरह देखें मानों वह कथाकार के आभ्यंतर में काम करने वाली प्रेरणा का पुंजीभूत रूप हो। ऐसा मानकर हम उस प्रेरणा के मूलस्वरूप को पहचानने में समर्थ हो सकते हैं। मेघदूत में यक्ष ने मेघ से हिमालय का वर्णन करते हुए कहा है।

शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।

"जिसके उज्ज्वल शिखर आकाश में इस तरह फैले हुए हों मानों दिन-दिन एकत्र किया हुआ शिवजी का अट्टहास हो।" मेघ ने, कहिये कवि ने पर्वत की विशाल उज्ज्वल अभ्रंलिह चोटियों को देखा। यह कथाकार का विशाल उपन्यास है। उसे देखकर कवि की कल्पना में तत्परत्व जागरित हुआ। उसने उड़ान भर कर देखा कि अरे यह जो बड़ा सा हिमालय दीख पड़ता है, ठोस पत्थर का पुंज, निस्सीम, वह तो कुछ नहीं, शिव के दैनिक अट्टहास की राशिमात्र है। उसी तरह आलोचक को मनोविज्ञान बतला सकता है कि कथाकार के वृहद्-काय उपन्यासों के स्वरूप को संगठित करने वाली एक मानस की ग्रन्थि है जो उसके बचपन में किसी घटना के कारण बन गई हो और वह आज भी लेखक को अपनी अभिव्यक्ति के लिए बेताब करती रही हो।

इस तरह कृति के सहारे कृतिकार के मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रयत्न यहां किया जायेगा। अर्थात् यहां पर हमें मनोविश्लेषक बन जाना पड़ेगा। मनोविश्लेषक और साहित्यिक मनोवैज्ञानिक का कार्य बहुत हद तक

समान है, एक तरह का है। दोनों के पास Subject की जीवन प्रतीक सामग्री है। मनोविश्लेपक के सामने स्वप्न है, भूलें हैं, रहन-सहन का ढंग है, इत्यादि। साहित्य-मनोविज्ञान के सामने विशाल रचना समूह है। परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि साहित्य के सामने जो सामग्री है वह मृत है, निर्जीव है, प्रश्न करने पर बोल नही सकती। पर मनोविश्लेपक के सामने शान्त वातावरण में आरामदेह सोफे पर पड़ा हुआ जीवित व्यक्ति है जो हर तरह से सहायक हो सकता है। इतने से अन्तर को छोडकर दोनो का कर्तव्य करीब-करीब एक सा ही है और दोनो को एक ही तरह सामग्री तथा पद्धति से काम लेना पड़ता है।

परन्तु इस तरह के प्रयत्न की ओर अग्रसर होने के पहले यह देख लिया जाय कि और लोगों ने इस तरह के प्रयत्न किये हैं या नही और यदि किये हैं तो उनका क्या परिणाम हुआ ? हिन्दी मे तो इस तरह का प्रयत्न हुआ नही; "जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः" कहकर इस तरह के प्रयास के मूल पर ही कुठाराघात कर दिया गया है। पर यह बात आजकल की मान्यता से, विशेपतः जिस तरह की अध्ययन पद्धति की चर्चा हो रही है, उसके एकदम विपरीत है। कारण कि इस तरह के प्रयास से जो तथ्य उपलब्ध हो उनकी सत्यता की जांच के लिए दो बातें आवश्यक हैं, प्रथमतः तो कवि जीवित हो, तभी तो वह अपने सम्बन्ध में कही गई बातों के बारे मे कुछ अधिकारपूर्वक कह सकेगा अथवा उससे कहलाया जा सकेगा, यदि जीवित नहीं है, तो दूसरा उपाय यह है कि उनके जीवन से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त हो। ये दोनो बाते हिन्दी मे मौजूद नही। मौजूद नही है, इस बात को गलत ढंग से नही समझा जाय। मैं यह कह ही कैसे सकता हूँ कि आज हिन्दी साहित्य मे कोई भी कथाकार या कवि जीवित नही है। कहने का अर्थ केवल यह है कि बहुत कम ऐसे साहसी, निर्भीक और स्पष्ट (Frank) साहित्यिक है, जो अपने को मनोविश्लेपण की कसौटी पर कसे जाने मे सहयोग दे सकें पर अंग्रेजी मे इस तरह के अनेक अध्ययन प्राप्त है। उनमे एक को मैं यहां लूंगा।

Leon Edel ने अपनी छोटी पुस्तक Literary Biography में Willa Cather के उपन्यास The Professor's House को लेकर इस तरह के अध्ययन का प्रयत्न किया है। इसमे Professor St. Pater की कथा है। ये एक ख्यातिप्राप्त प्रोफेसर है। अध्यापक रूप मे इन्होने पर्याप्त यश अर्जित किया। लक्ष्मी की भी इन पर कृपा रही। अभी हाल ही मे इन्हे अपनी एक

महत्वपूर्ण रचना पर पुरस्कार प्राप्त हुआ और इन्होने अपनी पुत्री तथा पत्नी की प्रसन्नता के लिए एक सुन्दर मकान बनवाया है। इनकी पुत्री Rosamond का विवाह एक चुस्त दुरुस्त चलते पुर्जे तथा प्रदर्शनप्रिय Louie Marsellus नामक नवयुक से हुआ है। रोजामण्ड के प्रेमी तथा प्रोफेसर के एक शिष्य Tom Outland के आविष्कार का प्रयोग अपने व्यापार की उन्नति के लिए करके, इसने परिवार की समृद्धि में योग दिया है। पर प्रोफेसर को इन लोगों के आधिभौतिक दृष्टिकोण से सन्तोष नहीं और वह दिन प्रतिदिन इन लोगों से कटकर मनसा अलग पड़ता जाता है। उसका परिवार उसके हृदय के भावात्मक अंश को संतुष्ट नही कर पाता। अतः वह अपने पुराने मकान को जहां उसने जीवन के २५ वर्ष व्यतीत किये हैं, छोड़ना नही चाहता और यदि छोड़ता भी है, तो नये मकान की एक कोठरी मे सबसे अलग रह कर ही जीवन-यापन करता है। कहने का अर्थ यह है कि धन-धान्य पुत्र-कलत्र सब तरह से भरे-पूरे रहने पर भी उसे सन्तोष नही, एक अभाव की पीड़ा उसे कचोटती रहती है।

पुस्तक के दूसरे भाग मे प्रोफेसर के प्रिय शिष्य Tom outland की कथा कही गई है। इस कहानी का प्रमुख अंश वह है जहा पर Outland अपने Roddy नामक एक मित्र के सहयोग से मैक्सिको के पर्वतीय प्रदेश मे एक गुफा को खोज निकालता है जिसमे कुछ आधुनिक सभ्यता से अछूती वन्य जातियां निवास करती हैं। यहा का जीवन आदिम ढंग का पर साथ ही जटिल भी था। यहां पर उसने कुछ ऐसे बर्तन पाये जो पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसी तरह की अनेक सामग्रियों के नमूने लेकर वह वाशिंगटन आया और अधिकारियों से मिलकर इन महत्वपूर्ण वस्तुओ की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। पर वहा की लालफीताशाही तथा अधिकारियो के ठंडे, रूखे तथा उदासीन व्यवहार से बडी निराशा हुई। इस तरह निराश होकर जब वह पुनः उस पर्वत स्थान को लौटता है, तो पाता है कि उसके साथी ने जर्मन पुरातत्वप्रेमी के हाथो अच्छे मूल्य पर उन सब सामग्रियों को बेच दिया और सारी धन-राशि को अपने मित्र Outland के नाम से बैंक मे जमा कर दिया है। मित्र तो सद्भावना से प्रेरित था और उसने मन में यही सोचा था कि वह Outland के हित की दृष्टि से ही यह सब व्यापार कर रहा है। पर Outland ने इसको विश्वासघात के रूप मे ग्रहण किया, क्रोध मे आकर अपने मित्र से सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये

और एकान्तवास करने के लिए उसी उच्च शिखरस्थ गुफा में चला गया। वहां रह कर अपने सारे साहसिक क्रियाकलापों को लिपिबद्ध किया। कुछ दिनो के बाद वह पर्वत से उतर आया, बैंक से रुपये निकाले, कालेज मे जाकर अध्ययन करने लगा और वही पर उसकी प्रोफेसर से मुलाकात हुई, जो उसका गुरु तथा पथप्रदर्शक बना।

तृतीय भाग मे पुनः प्रोफेसर की कहानी कही गई है। अकेला, उदास, निस्तेज, मुर्दादिल वह कोठरी मे जीवन व्यतीत कर रहा है। उसके परिवार के अन्य सदस्य ग्रीष्म ऋतु बिताने के लिए कही बाहर गये हैं। एक दिन नींद के टूटने पर वह पाता है कि धूयें से सारा कमरा भर गया है और उसका दम घुट रहा है पर उठकर खिड़कियों को खोलने में अपने को वह असमर्थ पा रहा है कि शुद्ध वायु का संचार हो सके। मानो उसमें जीवित रहने की इच्छा का ही अभाव हो। भाग्यवश उसकी नौकरानी ठीक समय पर आ जाती है और प्रोफेसर के प्राणो की रक्षा करती है। यही उपन्यास की समाप्ति होती है।

इस उपन्यास का विवेचन तीन स्तर पर किया जा सकता है। साहित्यिक स्तर पर, मनोविश्लेषण के स्तर पर तथा आत्मकथा के स्तर पर। साथ ही यह भी देखना होगा कि इन तीनो स्तर पर से की गई आलोचनाओं मे कहां तक पारस्परिक संगति है।

कुछ लोगों ने इस उपन्यास पर साहित्यिक अथवा कलात्मक दृष्टि से विचार किया है। कलात्मक दृष्टि की प्रमुख समस्या यह होती है कि आलोच्य वस्तु के भिन्न-भिन्न भागो मे कहां तक परस्परान्विति के तत्व वर्त्तमान हैं और वे सब मिलकर कहां तक सगठित पूर्णता का आभास देते है। यदि आपाततः आलोच्य वस्तु के भिन्न-भिन्न अश सगठित से नही दीख पडते तो कला के आलोचक का यह प्रयत्न होता है कि उसमे कोई ऐसा विन्दु ढूंढ़े, जिस स्थान पर खड़े होकर देखने से, वस्तु के कलामत्क ऐक्य को ठीक से देखा जा सके। कला का पारखी यह मानकर चलता है कि हमारे पास जो वस्तु उपस्थित है वह यो ही नही परन्तु किसी सृजनात्मक प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व मे आई है। अतः इसमे कोई ऐसा संयोजक तत्व अवश्य है जिसने सारे अवयवों को एक संगठन में आवद्ध कर रखा है। उसे ढूंढना होगा और तब तक ढूंढना होगा, जब तक वह हर तरफ से निराश न हो जाय। वह स्रष्टा को Benefit of doubt देने के लिए सदा तैयार रहता है। वह प्रयत्नपूर्वक रचना के उस शीर्ष-स्थल पर पाठको का ध्यान आकर्षित करता है

जिसकी ऊंचाई पर से देखने पर असम्वद्ध से दीख पड़ने वाले अंश भी सीधे होकर दीख पडने लगें।

इस उपन्यास के पाठक की मुख्य कठिनाई यह है कि इसमें आई हुई कथाओं मे संगठन के तत्व दीख नही पड़ते। पहले भाग में प्रोफेसर के पारिवारिक जीवन की कथा है, दूसरे मे Outland की कथा आ जाती है। तीसरे भाग मे पुनः प्रोफेसर की कथा आ जाती है जो मरते-मरते वचता है। सारे उपन्यास मे एक व्यापक गतित्व चाहिए, जिसके व्यापकत्व की सीमा में सारी वस्तुएं यथास्थानावस्थिति की धारणा उत्पन्न कर सकें। प्रोफेसर ब्राउन ने पाठकों का ध्यान इस वात की ओर आकर्षित किया है कि यदि हम 'गृह' के प्रतीकात्मक स्वरूप को ध्यान मे रखें तो सारी असंगतियां दूर हो जाती हैं। प्रोफेसर के पास दो गृह हैं, एक पुराना और दूसरा नया। पुराना गृह उसके लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह उसके जीवनसम्वन्धी आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। नया गृह तुच्छ है क्योंकि इसकी नीव आधिभौतिकता पर है और इस तरह उसके जीवनव्यापी स्वप्नों पर कुठाराघात है। उसका शिष्य जिस पार्वत्य गुफा का पता लगाता है उसके साथ भी प्रोफेसर को सहानुभूति है, कारण कि यह मानवता के वास्तविक गौरव तथा आध्यात्मिक मूल्यों का ही प्रतीक है।

तीसरे भाग में आकर इन गृहो को लेकर जो मानसिक संघर्ष चल रहा है उसका स्वरूप स्पष्ट है और उपन्यास की कलात्मकता स्पष्ट होती है। प्रथम भाग मे प्रोफेसर के हृदय में नये गृह के प्रति जो एक अनिच्छा है, विरक्ति है, औदासीन्य है, वह स्पष्ट है। तीसरे भाग के प्रारम्भ मे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि परिवर्तनशील परिस्थितियो के कारण उसके लिये पुराने गृह मे रहना सम्भव नही, उसे समय के साथ वदलना पड़ेगा; वह वदलता भी है। पर वाद में ऐसा लगता है कि उसका विकास रुक गया है, उसके व्यक्तित्व मे नूतन वायु का संचार होना रुक गया है और वह फिर से अपने वाल्यकालीन जीवन (पुराने गृह) की ओर प्रत्यावर्तन करने के लिए प्रेरित हो रहा है। भविष्य उसके लिए रुक गया है और वह भूत, मृत्यु अर्थात् अपने तृतीय गृह के लिए तैयार कर रहा है।

गृह की प्रतीकात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर और प्रोफेसर की मानसिक क्रियाओं के स्वरूप का रहस्योद्घाटन कर, ब्राउन ने उपन्यास के कलात्मक ऐक्य सूत्र को सफलतापूर्वक खोजकर पुस्तक के साहि-

त्यिक महत्व को बतलाया है और अब इतना हो गया है कि इसके चलते पुस्तक के रसास्वादन मे पाठक को सहायता मिली है। पर इस आलोचना से एक बात को समझने में कुछ भी सहायता नही मिलती। प्रोफेसर पीटर के विषाद, असन्तोष अवसन्नता तथा खिन्नता का कारण क्या है ? वह हर तरह से पूर्ण है, लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की उस पर कृपा है, उसकी सन्तान हर तरह से फल-फूल रही है। स्वय प्रोफेसर ने भी कितनी ही महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना कर, अपार यश का अर्जन किया है। तब उसे किस बात की कमी है, जो उसे बेचैन किये रहती है।

चलें मनोविश्लेषण के पास, शायद वह इस प्रश्न को लेकर इस पर कुछ प्रकाश डाल सके। वह कहानी को ध्यानपूर्वक सुनकर कहेगा; इसमें हमे एक ही सूत्र हाथ लगता है, जिसके सहारे हम प्रोफेसर के आन्तरिक गोपनीय रहस्यों का कुछ-कुछ पता चला सकते हैं। सारी कथा में प्रोफेसर साहब के गृह-प्रेम की प्रमुखता छाई हुई है अपने पुराने वाले घर मे वह सब से ऊपर वाली कोठरी मे रहता है। उसका सारा परिवार नीचे रहता है। वह अपने परिवार वालो से एकदम अलग सा ही है। कभी-कभी ही इन दोनों मे सम्पर्क होता है। मनुष्य जिस स्थान पर बहुत दिनों से रहता है, उससे प्रेम हो जाना अस्वाभाविक नहीं। परन्तु प्रोफेसर के गृह-प्रेम मे ऐसा आतिशय्य है, प्रगाढता है, विवशता है कि वह मनोविकार की सीमा को छू रहा है और हमे अपने भीतर के इतिहास की ओर झांकने के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि प्रोफेसर अपने अध्ययन तथा साहित्यिक सृजन के लिए थोडा सा एकान्त चाहता है, तो कोई असाधारण बात नही, सभी ऐसा चाहते हैं। परन्तु उनके व्यवहार मे एक विचित्रता है। वह अलग भी रहता है, पर साथ ही साथ अपने परिवारवालो की सेवाओं पर अधिकार का दावा भी करता है। चाहता है कि वे उसके सुख-सौविध्य का ध्यान रखें, उसकी देख-रेख करें, भोजन का ध्यान रखे। यदि इस तरह के व्यक्ति के मनोविज्ञान पर ध्यान दें, तो पता चलेगा कि उसकी मानसिक प्रक्रिया बच्चे की तरह है—वह बच्चा जो अपने को मां और उसके स्तन का एकमात्र स्वामी समझता है; उसका इच्छानुसार उपभोग कर सकता है, पर इसके लिए उसे किसी तरह का प्रतिदान भी करना है, इसकी कोई बाध्यता नही समझता। उसकी कोठरी उसकी मां के गर्भ की तरह है जिसके शांत, शीतोष्ण वातावरण मे बाह्य संसार से दूर, अनुत्तरदायी, गर्भस्थ बालक की तरह अपने को सुरक्षित समझता है।

उस कोठरी मे एक वृद्धा नौकरानी भी रहती है। साथ ही दो मूर्तियां भी हैं— एक नारी मूर्ति, ऐसी कि श्रद्धा के भाव उत्पन्न करती है दूसरी मे शारीरिक सौन्दर्य तथा आकर्षण की प्रधानता है। नौकरानी तो माता का प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से माता के दो रूप होते हैं, एक में वह हमारी सुरक्षिका है और दूसरे मे वह काम भाव का आधार होती है। ये दोनों मूर्तियां मानों माता के दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं अर्थात् अपनी एकान्त कोठरी में मां अपने दोनो रूपों के साथ उपस्थित है।

दूसरे भाग में Outland की जो कथा कही गई है वह भी वैज्ञानिक दृष्टि से इसी से मिलती-जुलती है। नायक पर्वत के उच्च शिखर पर गुफा की खोज करने मे सफल होता है। गुफा नारी का प्रतीत है—उसकी मां का जो उसकी दृष्टि मे कुमारी है। वहां मिट्टी के पुराने बर्तन प्राप्त करता है। ये बर्तन भी नारी के प्रतीक हैं। उसका जो साथी बर्तनों को बेच देता है वह उस भाई या पिता का प्रतीक है, जो उसकी मा के प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी है। Outland अपने साथी से अलग होकर अकेला उस गुफा में चला जाता है, जहाँ कुछ दिन रह कर अपनी सारी साहसिक कथाओं को लिपिबद्ध करता है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि यह भी उसके मातृप्रेम का ही प्रतीक है; जिसे वह सर्वरूपेण स्वतन्त्र होकर उपभोग करना चाहता है।

जब प्रोफेसर नये गृह में आता है तो, उपन्यास मे कहा गया है कि वह नीचे की कोठरी मे अपना निवास-स्थान बनाता है, ऊपर वाले भाग मे परिवार के अन्य सदस्य रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अर्थ यह होता है कि चाहे मनुष्य बचपन से भले ही चिपका रहना चाहे पर जीवन का प्रवाह तो आगे बढ़ता ही जाता है। परिस्थितियां उसे बदलने के लिये बाध्य करती हैं। प्रोफेसर समझता है कि उसका युग बीत गया। उसे नीचे रहना पडेगा, दूसरे अब ऊपर रहेंगे। एक तरह से जीवन के साथ उसका समझौता है, परन्तु फिर भी वह बालक ही है, जीवन से दूर ही पडता जाता जाता है। उसके सामने दो विकल्प हैं—या तो वह अपने परिवार से सर्वथा अलग हो जाय अथवा अपनी अकर्मण्यता को छोड़ कर सक्रिय जीवन व्यतीत करे। उपन्यासकार ने दिखलाया है कि प्रोफेसर का दम घुट रहा है। मानो वह कह रहा है कि मां के गर्भ मे आवश्यकता से अधिक दिन तक रहने से तो ऐसा होता ही है। उपन्यास के अन्त तक प्रोफेसर की समस्या का कुछ भी हल

नही निकलता है; सिवा इसके कि अन्त मे चलकर मां पृथ्वी उसे अपने गर्भ मे समाहित कर ही लेगी! अतः हम देखते हैं कि मनोविज्ञान ने मां तथा उसके गर्भ की मूर्ति को सामने लाकर प्रोफेसर की खिन्नता तथा विषाद का समाधान उपस्थित किया।

ऊपर मनोविश्लेपण के सिद्धान्तों के आधार पर उपन्यास के प्रमुख पात्र प्रोफेसर के जीवन के पैटर्न की, बाहरी ढाचे की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। अब इस उपन्यास की लेखिका Miss Willa Cather की वास्तविक जीवनी तथा उसकी घटनाओं मे मिला कर देखा जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास के नायक प्रोफेसर के व्यवहारों तथा घटनाओं मे विचित्र साम्य है। ऐसा लगता है कि लेखिका की जीवनी ही उपन्यास के पात्र, तथा उनकी घटनाओ का रूप-धारण कर सामने आ रहे हैं E. K. Brown नामक एक व्यक्ति ने Willa Cather की एक प्रामाणिक जीवनी लिखी है तथा Edeth Lewis ने उसके संस्मरण लिखे हैं। इन दोनों पुस्तकों को मिलाकर अध्ययन से लेखिका के जीवन के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हो सकती है। यहां विस्तारभय से लेखिका की सम्पूर्ण जीवनी का उल्लेख करना सम्भव नही। हम यहा पर कुछ मोटी-मोटी बातो पर ही सन्तोष करेंगे।

पहली बात तो यह है कि इस उपन्यास की सारी प्रगति गृह-परिवर्तन तथा गृह-निर्माण की केन्द्र-भूमि पर चक्कर काट रही है। लेखिका की जीवनी से पता चलता है कि उसे भी जीवन में कितने ही बार परिस्थितियों से बाध्य होकर निवास-स्थान मे परिवर्तन करना पड़ा है। अध्ययन करने वालों ने पता लगा कर देखा है, तत्तत् अवसर पर लिखी कहानियो मे तत्तन्निवासगृहों की छाया पाई गई है।

लेखिका के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है पीटर्सबर्ग की एक सम्पन्न महिला Isabelle Mcclung से उसकी मैत्री! इस नवयुवती ने लेखिका को अपने संरक्षण में लिया और उसे अपने विशाल प्रासाद में निवास करने के लिए निमन्त्रित किया। वहां पर शांत, सुन्दर, स्वच्छ कमरा दे दिया जहा पर शांतिपूर्वक रह कर साहित्य-प्रणयन का कार्य किया जा सके। लेखिका ने इस अवसर से लाभ भी उठाया और अनेक कहानियों तथा उपन्यासों की रचना की। इसी समय १९१६,१९१७ मे नई घटना घटी। Isabelle ने Jam Hambourg नामक व्यक्ति से विवाह कर लिया। ठीक इस समय के बाद की रचनाओं में नई बात दीख पड़ने लगती है अर्थात् उनमें

एक आंतरिक विक्षोभ, चिंता तथा असन्तोप की झलक आने लगी है। ऐसा लगता है कि लेखिका किसी आंतरिक चोट से वेताव है। इसी समय का उपन्यास है—A lose lady जिसमे एक ऐसी नारी की कथा है जो निरंतर परिवर्तन-शील तथा प्रगतिशील संसार में रह कर भी प्राचीन विगत मूल्य के साथ चिपकी हुई है। इसी के पश्चात् The Professor's House नाम के उपन्यास की रचना हुई।

इस उपन्यास के प्रारम्भ करने के पहले लेखिका अपनी सहेली के निमंत्रण पर फ्रांस में उसके महल में निवास करने के लिए वहां गई थी। वहाँ पर उसे रहने की हर तरह की सुविधा थी, विवाहित दम्पति उसके सुख-सौविध्य का हर तरह से ख्याल रखते थे और चाहते थे कि वह शांतचित्त तथा दत्तचित्त हो रचना कार्य में प्रवृत्त हो सके। पर जो होना था वह होकर रहा। Miss Cather को ऐसा अनुभव हुआ कि वहां रह कर उसके लिये काम कर सकना कठिन है।

यही पर Leon Edel ने किंचिद् विस्तार से लेखिका की जीवन-सम्बन्धी घटना तथा उपन्यास की घटनाओं की तुलना की है। सब बातो का उल्लेख करना सम्भव नही। पर कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही है जिनसे दोनों के साम्य का परिचय मिलेगा।

"Willa Cather's early uprootings have more meaning in explaining the attachment to a fixed abode than universal uprooting from the womb; her mother's aloofness, and her search for substitute houses, can also be readily fitted into the novel. The Pittsburgh house with its sewing-room has been transferred into the professor's frame house. Like the professor of her fiction, Miss Cather won a prize during her middle years; like him, she achieved success. The new house at Ville Avray has become the new house built by the professor's family; *it too* was no substitute for the old one, since in france Isabelle could no longer function for Willa Cather as a maternal figure exclusively possessed by her; she now had to share Isabelle with Jan–as she had to share her mother with her brothers; as the professor, though he dislikes

it, must share Rosamond with Louie; and as Outland shares his Caves and pottery with Roddy, only to lose them.

ऊपर कहा गया है कि इसी समय से मिस कैथर की रचनाओं में विषाद्, अवसाद तथा निराशा की उग्र छाया मडराने लगी है। पर लेखिका के जीवन की घटनाओं के ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद इसके रहस्य को जानने में कोई कठिनाई नही रह जाती। लेखिका को आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकता है; पर वह ऐसा अनुभव करती है कि Isabelle के विवाह के पश्चात् इसकी सुरक्षा का आधार ही नष्ट हो गया। अब तक तो अपनी सखी पर उसका एकाधिकार था और उसके स्नेह के साम्राज्य की वह एकाधिकारिणी थी पर विवाहोपरान्त उसमे हिस्सा बंटवाने वाला एक अन्य व्यक्ति आ गया। जन्म से ही वह दुःखिनी रही, मातृहीन तथा पितृहीन। एक स्थान पर रह सकना उसके भाग्य मे न था। इस स्थान से उस स्थान पर मारी-मारी फिरी। आशा की एक पतली रेखा Isabelle के व्यक्तित्व में दीख पड़ी थी। वह भी धुंधली हो चली। अब उसकी रक्षा कौन करे? यही कारण है कि उसकी रचनाओं मे नैराश्य की प्रधानता हो चली है।

ऊपर साहित्य की दृष्टि से, मनोविश्लेषण की दृष्टि से, उपन्यास पर विचार किया गया है। बाद मे लेखिका की जीवन सम्बन्धी घटनाओं से मिला कर भी उपन्यास को देखा गया है। तब क्या यह कहना कठिन होगा कि रचना के आधार पर लेखक के जीवन के पैटर्न का पता लगा लेना कठिन है!

द्वितीय खण्ड

शोध की समस्यायें

१. आलोचना, वैदुष्य तथा अनुसंधान
२. तुलनात्मक साहित्यिक शोध
३. शेक्सपियर-साहित्य का रचयिता : शेक्सपियर या मार्लो ?
४. पाठ-संशोधन की समस्या
५. अनुसंधान की जटिलता

१

आलोचना, वैदुष्य तथा अनुसंधान

साहित्य के विद्यार्थी के दो रूप होते हैं आलोचक तथा अनुसंधित्सु। इसी को अंग्रेजी मे Critic तथा Research Scholar कहते हैं। कोई आलोचक के रूप मे ख्याति प्राप्त करता है तो कोई अनुसन्धानकर्ता के रूप मे। उदाहरणार्थ सर्व श्री शुक्लजी, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इत्यादि ने शोध-कार्य कम नही किया है पर उन्हें आलोचक के रूप में ही लोग जानते हैं और समझते हैं। इधर सर्व श्री राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रतिभा ने साहित्यिक कृतियो के मर्मोद्घाटन में कम चमत्कार नही दिखलाया है पर फिर भी वे रिसर्च स्कॉलर हैं। कभी-कभी विद्वानों की गोष्ठियों में यह प्रश्न छिड़ जाता है कि माना कि आलोचक तथा अनुसंधायक दोनों ही एक ही विषय का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं पर उनकी सीमा-रेखा क्या है? शुक्ल जी की पद्मावत की भूमिका को शोध-कार्य कहें या आलोचना व्यापार। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' को आलोचना ग्रन्थ कहें या शोध-ग्रन्थ?

वास्तविक बात तो यह है कि दोनो मे कोई स्पष्ट रेखा नही खीची जा सकती। ईदृक्तया या इयत्तया इसका रूप अनवधारणीय है। दोनों की सीमायें एक दूसरे से मिली हुई हैं और दोनों ही एक दूसरे के क्षेत्र मे प्रवेश करते रहते है, पासपोर्ट की आवश्यकता नही पड़ती। अथवा यदि आवश्यकता पड़ती भी है तो केवल औपचारिक शिष्टाचार के निर्वाह मात्र के लिये। भले ही अन्य-क्षेत्र-प्रवेश का ज्ञान किसी को न हो। आमतौर पर दोनों का विभाजन इस ढंग से किया जा सकता है कि आलोचना अन्तर्मुखी होती है शोध बहिर्मुखी। आलोचक जब किसी कृति के आलोचना-व्यापार मे प्रवृत्त होता है तो वह प्रमुख रूप से उस कृति तक ही अपने को सीमित रखता है। वह विचार करता है कि उसके अवयव पारस्परिक रूप में किस तरह संगठित हैं, उसका रूप-विधान कैसा है, विषय कैसा है, इत्यादि। स्पष्ट है कि इन

वातों के लिये आलोच्य कृति से वाहर जाने की आवश्यकता नही है। आलोचक समस्या को अन्दर से छेड़ता है। यदि वह पुस्तक में उल्लिखित वाहर जाने लायक वातो को हाथ में लेता भी है तो इस निस्पृहता से मानो पुस्तक के प्राणों से उसका कोई सम्वन्ध न हो, वे पुस्तक की काया-वृद्धि भले ही करती हों पर प्राण-समृद्धि नही।

एक उदाहरण से वात स्पष्ट हो जायेगी। जायसी ने 'आखिरी-कलाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस वरिख ऊपर कवि वदी।।
आवत उधत-चार वड ठाना।
भा भूकम्प जगत अकुलाना।।

इन पंक्तियों के आधार पर विद्वानों ने जो तर्क का जगद्वाल खड़ा किया है वह मनुष्य के मस्तिष्क को चक्कर भले ही खिला दे और व्यक्तित्व के एक अश को प्रभावित भी करे पर रचना के मर्म पर किसी प्रकार का प्रकाश इससे नही पड़ता। अत', जो 'अलंकृति' जायसी की जन्मतिथि, उसके रचना-काल, उसकी जन्मपत्रिका के निर्माण पर अधिक ध्यान देते हों, भले ही अंतः साक्ष्य के ही आधार पर (हालांकि वहिःसाक्ष्य के विना उनका काम नहीं चलता) वे शोध-कर्त्ता विद्वान के पद के ही अधिकारी होगे। शुक्ल जी ने जायसी के जीवन-वृत्ति के वारे मे थोड़ी सी दिलचस्पी दिखलाई अवश्य है पर उनकी चित-वृत्ति वहाँ रमी नही है। उन्होंने काव्य के मर्मोद्घाटन में ही विशेष परिश्रम किया है। वे आलोचक हैं, इसी में उनका गौरव है। शोधक-विद्वान् भी विवेच्य कृति के अंतरंग में पैठने का प्रयत्न करता है पर अकेले नही, सारी वाहरी दुनिया को साथ लेकर। जव वह वाह्य संसर्ग से स्फीत काव्य को लेकर काव्य सरोवर मे प्रवेश करता है तो वही दृश्य उपस्थित होता है जो निराला की वुआजी के ताल मे प्रवेश करने पर हुआ था। आलोचक भी वाहरी दुनियां मे प्रवेश करता है, पर अकेले ही संवुद्धि या प्रतिभा की किरण के सहारे। उसका एक अवोध अकिंचन चैतन्य अपनी विकल वेदना को ही लेकर सुख को ललकारता है। विवेच्य कृति से उसको वाह्य जगत् की कुछ उपयोगी वातें मिल गईं, ठीक है। न भी मिली तो कोई चिन्ता की वात नही।

ऊपर की पंक्तियों मे दो शब्दो का प्रयोग किया गया है : शोधक और विद्वान। Research और Scholar. Research का ही लाक्षणिक अर्थ

Researcher अर्थात् शोधक कर लिया गया है। प्रश्न यह है कि क्या शोधक या विद्वान् एक ही है या दोनों मे कोई अन्तर भी है ? ध्यान से देखने पर दोनों में थोड़ा सा अन्तर दिखलाई पड़ेगा। यद्यपि दोनो ही बहुत दूर तक साथ-साथ चलते हैं। मेरे जानते स्कॉलर व्यापक है शोध-कर्ता व्याप्य। दोनो में वही सम्बन्ध है जो धूम और अग्नि मे है। 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वन्हि." यह तो ठीक। पर "यत्र यत्र अग्नि: तत्र तत्र धूमः" इसका ठीक होना आवश्यक नही। क्योकि अग्नि निर्धूम भी हो सकती है। इसलिये स्कॉलर के लिए Researcher होना आवश्यक है पर प्रत्येक Researcher Scholar हो यह कोई आवश्यक नही है। स्कॉलर रिसर्चर से बडा होता है। एक व्यक्ति बहुत बड़ा शोध-कर्ता हो सकता है, उसमें ज्ञान का भी अपूर्व भण्डार हो सकता है, यहां तक कि उसे चलता फिरता विश्वकोष ही कह लीजिए पर फिर भी वह स्कॉलर की पदवी नही प्राप्त कर सकता है। स्कालर होने के लिए ज्ञान-राशि के स्वामित्व को जीवन के विविध क्षेत्र की अनुभव-समृद्धि की आवश्यकता तो है ही पर साथ ही इन बिखरे हुए खण्डों के सम्बन्ध-सूत्रो को ढूढ निकालने वाली प्रतिभा की एक ऐसी व्यापक, सर्वग्राही, प्रसादी, विश्वतोमुखी दृष्टि की—जो सबका समाहार कर सार्थकता प्रदान कर सके—भी आवश्यकता है। रिसर्च साधन है, स्कॉलरशिप माध्यम। रिसर्च एक व्यवसाय है, धन्धा है, स्कॉलरशिप मानस प्रवृति है, जीवन-पद्धति है। रिसर्चर ज्ञान-राशि भण्डार को देखकर हक्का-बक्का सा हो सकता है, आतंकित हो सकता है, किंकर्त्तव्य विमूढ सा हो जा सकता है। समझ नही सकता कि फैले हुए इस जंजाल का वह क्या करे। बोझ से दब जा सकता है। पर स्कॉलर इन सब प्रपंच, विस्तार, फैलाव का स्वामी होता है। वह जानता है कि इन बिखरे हुए खण्डो को कहा किस तरह स्थापित करने से उनकी अधिक से अधिक सार्थकता हो सकती है। यदि एक बहु प्रचलित सस्कृत के श्लोक के सहारे अपने मन्तव्य को प्रकट करे तो कह सकते है.—

यथा खरःश्चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य
एवंहि शास्त्राणिधीत्य बहून्यः चार्थेषु मूढ़ा खरवद्वहन्ति

स्कालर "अर्थेषु मूढ़" कभी नही हो सकता। चन्दन की विपुलता भले ही उसकी पीठ पर न हो पर जो कुछ भी चन्दन होगा उसकी सुगन्ध ही उसका उपभोग्य होगा। Johan Livington Flow ने लिखा है—

Human scholarsbip......moves and must move within two worlds at once-worldly scientific method and the world

in whatever degree of certain art. The postulates of the two are radically different. And our exquisitely different task is to confirm at once to the stipulation of each without infringing on those of the other. The path of the least resistance is to follow one and let the other go. Research which is the primary instrument of Science, is felt to be the easier and also it is more alluring. I too have heard the siren's song and I know where of I speak. And so we tried to become enamoured of the methods and at times to forget the end; to allow, in a word, fascination of the means to distract up from the very object for which they are employed. And that end is, in the broadest sense of word, interpretation—the interpretation in the light of that researches can reveal of the literature which is our field.

अर्थात् "विद्वान् मानव एक ही साथ दो संसार मे विचरण करता है और यह उसके लिये अनिवार्य है। एक तो वैज्ञानिक पद्धति के संसार मे और दूसरे रचनात्मक कला के संसार मे चाहे कुछ ही मात्रा में हो। दोनो के नियामक तत्व सर्वथा भिन्न हैं। हमारा सबसे कठिन कार्य यह है कि प्रत्येक के अनुबन्धों का पालन भी किया जाय पर दूसरो की सीमा का अतिलंघन भी नही हो। सबसे सुगम मार्ग तो यह है कि एक का पालन किया जाय तथा दूसरे का त्याग। अनुसंधान विज्ञान का प्रमुख साधन है तथा अधिक आकर्षक भी। मैंने भी इस सीटी की आवाज सुनी है और जानता हूँ कि कहा से बोल रही है। अतः हम लोग पद्धतियों के मोह मे पड़ जाते हैं और कभी कभी लक्ष्य को भूल जाते हैं। मतलब कि साधन तो किसी लक्ष्य की प्राप्ति के अस्त्र भर है, पर उसका मोह हमारे ध्यान को अभीष्ट लक्ष्य से खींच लेना है। अपने व्यापकतम रूप में लक्ष्य है न्यास-निर्वचन। हमारा क्षेत्र साहित्य हे और हमारे शोध प्राप्त उपकरण से जो कुछ भी किरण हाथ लगे उसके आलोक में निर्वचन करना ही हमारा लक्ष्य है।"

न्यास-संग्रह करना, न्यास का उपस्थापन करना अलग व्यापार है और न्यास-निर्वचन करना अलग। दोनों भिन्न वस्तुएं है। शोधकर्ता न्यास स्थापन तो कर देता है, सामग्री जुटा देता है पर उन्हे अपने दृष्टिकोण के व्यापकत्व में लाकर सार्थकता प्रदान करना स्कॉलर का काम है।

अंत में चलकर इन सारे परिश्रमों, सर्वारंभो तथा उद्योगों का लाभ आलोचना को मिलता है। इतने परिश्रम से कौड़ी-कौड़ी जो माया बटोरी जाती है, पेट काट-काट कर, भूखे रहकर जो बीमा की किश्तें अदा की जाती हैं, उन सबका Beneficiary (हिताधिकारी) होती है आलोचना। मेरी मान्यता है कि स्कॉलर और आलोचक दोनों साथ-साथ चलते हैं। कभी जरा साथ छूट जाय तो छूट जाय पर फिर वे एक साथ मिल जाते हैं। शोधकर्त्ता और आलोचक में इतनी प्रगट मैत्री नही होती। पाठालोचन करने वाले, लेखक की जन्मतिथि, पुस्तक की रचना तिथि तथा कृतिकार की लेखनी से निस्सृत वास्तविक शब्दों की खोज करने वाले पाठानुसंधायक शोध-कर्त्ता है। ये आलोचक नही है। चाहे तो इन्हें Pre-Critic कह सकते है। ये जो अपना बीमा कराते हैं वह ऐसा नही कि वे अपनी जमा की हुई अर्थराशि के अधिकारी हो ही नही सकें। यदि किश्त अदायगी की अवधि पूरी हो गयी और वे जीवित रहें तो उनका अधिकार अक्षुण्ण है। परन्तु अपने निधन की अवस्था में उन्हें अपने किसी आत्मीय व्यक्ति को हिताधिकारी मनोनीत करना पड़ता है। अतः, इसे Self endowment policy कह सकते हैं। यदि शोध-कार्य मे ही व्यक्ति की सारी शक्ति समाप्त नही हो गयी, यदि उसके मन मे यह भावना न बनी कि यही पर उसकी इतिकर्त्तव्यता समाप्त हो गई, उसके मन में यह इच्छा हुई कि इन चूर्णिकाओं को किसी व्यापक चुम्बकीय दृष्टि-कोण के सहारे एक Magnetic field का व्यवस्थित रूप दे दिया जाय तो वह Critic होगा जो प्रायः Scholar भी होता ही है।

अंग्रेजी में सेन्ट्सबरी ने History of criticism नामक बृहत्काय पुस्तक लिखी है। इस ग्रंथ मे आलोचना के विषय का इतिहास तो लिखा ही गया है परन्तु कहीं-कहीं—कहीं-कहीं तो क्या, प्रायः सर्वत्र ही—साहित्य-प्रणेताओं की कृतियों के महत्व, उनकी पद्धति तथा उनके मूल्यांकन की भी आवश्यकता आ पड़ी है। अतः, कवियों, कथाकारों तथा आलोचकों के ऊपर बहुत सी ज्ञान-वर्द्धक, नेत्रोन्मीलक, मर्मोद्घाटक तथा अज्ञान-ध्वांत-विनाशक सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। इस ग्रंथ मे सेंट्सबरी हमारे सामने जिस रूप मे उपस्थित हैं वह स्कॉलर-क्रिटिक का रूप है। उनके सारे व्यापार में किसी तरह का जोर मालूम नही पड़ता, लेखक बोझ से दबता सा नही दीखता। यह तो लगता है कि लेखक बहुज्ञ है, उसके ज्ञान की सीमा विस्तृत है, उसका ज्ञानभंडार समृद्ध है, उसके संकेत पर ज्ञान के खण्ड उसकी

सेवा में उपस्थित हो सकते हैं, हाथ जोड़ खड़े रहते हैं, पर ऐसा नही लगता कि उसके लिये उसे जरा भी परिश्रम करना पड़ा हो।

उसके अदर ज्ञान के उत्ताप, सवेग, गौरव-गरिमा का आभास तो मिलता है पर उसके ललाट पर किसी तरह का अमिकुंचन नही दिखलाई पड़ता, प्रस्वेदविन्दुओ के दर्शन नही होते, स्वच्छ प्रसन्न-स्तिमित-मुद्रा ही दर्शनीय होती है। लेखक के पास दृष्टिकोण का व्यापकत्व है जो सारे ज्ञान भण्डार को संजोये रहता है। वह सवका स्वामी है। वह स्कालर है। इस प्रसग मे हिन्दी के रामचन्द्र शुक्ल तथा डा. रामकुमार वर्मा का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—ये दोनों ग्रथ सामने रखे जा सकते हैं। हालांकि सेंट्सबरी में जो प्रगाढ़ता, गौरव, व्यापकत्व, दृष्टिकोण की स्वच्छता मिलती है उसकी तुलना शुक्लजी तथा डा. वर्मा से नही की जा सकती है। सेंट्सबरी कही अधिक महान् है।

इस तरह स्कालरनुमा आलोचना की कुछ अपनी विशिष्टताएं होती हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक होगा। आलोचना विज्ञान नही है, स्कालरशिप भी विज्ञान नही है। विज्ञान मे वैज्ञानिक का निजी व्यक्तित्व, दृष्टिकोण कभी भी सामने नही आने दिया जाता। वहां पर विषय की ही प्रधानता रहती है। पर आलोचना साहित्य-क्षेत्र की सीमा में आती है, स्कालरशिप भी इसी नगरोपकण्ठ की निवासिनी है। यह अवश्य है कि जब से विज्ञान का प्रभुत्व बढ़ने लगा है तब से आलोचकों की ओर से यह प्रयत्न अवश्य हुआ कि आलोचना को भी ऐसी साज-सज्जा में उपस्थित किया जाय कि वह विज्ञान से विजातीय सी न लगे। इस झोंक में आकर *T. S. Eliot* ने कहा था कि Poetry is not an expression of personality but an escape from personality, पर लोगो ने देखा कि यह केवल शब्दों का ही हेरफेर है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा व्यक्तित्व से पलायन में कोई विशेष अंतर नही। दोनो ले देकर एक ही वस्तु हैं। विज्ञान का कुत्ता बहुत भों-भों कर रहा है। आलोचना ने उसके सामने शब्द के मांस का टुकड़ा फेंक दिया। अब वह चुप है।

इस आलोचना में आलोच्य कृति या कृतिकार के सम्बन्ध में ज्ञान-तथ्यों का वृहदाकार स्तूप नही खड़ा किया जाता परन्तु एक ऐसा परिवेश, वातावरण, ध्वनि, टोन तैयार किया जाता है जिसमें आलोच्य कवि या कृतिकार की

महत्वपूर्ण विशेषताएं सामने आ जायें। आलोचक का व्यक्तित्व, उसकी अभिरुचियां, पूर्वाग्रह, उसके प्रिय लेखकों के प्रति कोमल भाव के प्रतिबिम्ब सदा हमारे सामने उपस्थित रहते हैं। उसकी आलोचना कभी भी उसके प्रिय विवादों से मुक्त नही होती और वह उन पर अपनी सम्मति भी देता चलता है। इन सारे व्यापारों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया के सम्मिलित परिणाम के रूप मे आलोचना अपना स्वरूप-ग्रहण करती है। यही कारण है कि आलोचना अपने प्रिय कवि तथा लेखक के बारे मे ही अपनी सहज स्वाभाविक तथा प्रसन्न मुद्रा में उपस्थित होती है। जिन लेखको के साथ उसकी चित्तवृत्ति नहीं रमती, जिनमे वह रस नही लेती, उनकी ओर देखती भी नही। यदि कर्त्तव्य की ओर से उनकी ओर दृष्टिपात करना भी पड़ता है तो वह उसके साथ पूरा न्याय नही करती। शुक्ल जी आलोचक थे। उन्होने तुलसी, सूर, जायसी तथा अन्य कवियों पर भी लिखा है परन्तु उनकी आलोचना का वैशद्य, वैमल्य, आनन्द एवं चमत्कार तो तुलसी के ही भाग्य में पडा।

ऊपर की पक्तियों में आलोचक, विद्वान् तथा शोध-कर्ता के वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा की गयी है। शोध-कर्ता की तुलना हम मजदूर से कर सकते हैं, विद्वत्ता उस सामग्री का समुचित संकलन करती है परन्तु यह आलोचना ही है जो पूरे प्रासाद का नक्शा बनाती है और जिसके ही निर्देशन मे सारी उपलब्ध सामग्री नियोजित की जाती है। आलोचक को इन्जीनियर भी कह सकते है केवल इतना ध्यान मे रखकर कि इन्जीनियर के लिये आवश्यक नही कि वह अपने निर्देशनों में निर्मित महल मे रहे ही। पर आलोचक अपने निर्देशनो पर निर्मित-भवन के निवासानद का उपभोग भी करता है। वह अपने भवन से बाहर कम जाता है, उसका ध्यान आलोच्य कृति तक ही सीमित रहता है पर उसके निवास भवन की चौहद्दी बहुत बड़ी है। है तो वह पिण्ड ही पर वही ब्रह्माण्ड बन जाता है। बूंद समुद्र बन जाती है, कतरा दरिया नजर आने लगता है।

हमारे सामने तीन पुस्तके है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, बिहारी सतसई तथा पल्लव। ये तीनों ही मनोरंजक है, पढने पर आनन्द प्रदान करती हैं, इनके अर्थ-बोध मे भी कठिनाई नही। यदि इनके बारे में और कुछ भी तथ्य नही भी ज्ञात हो कि इनके रचयिता कौन है, किस समय उत्पन्न हुए, उन्हे जीवन मे किस तरह की अनुभूतियां प्राप्त हुईं, तो भी कविता के रसास्वादन मे किसी तरह की कोई कठिनाई नही होगी। आखिरकार बहुत सी कृतियां हैं

जिनके रचयिताओं का हमे कुछ भी पता नही पर उनसे प्राप्त होने वाले आनन्द में हम किसी तरह की बाधा का अनुभव नही करते। आजकल शुद्ध कविता की खोज प्रारंभ हुई है। उसी तरह शुद्ध आलोचना यह कहेगी कि जो आलोचना कृति के मर्म या सौन्दर्य के अवबोध के लिये दूसरों का मुंह जोहती रहेगी—इतिहास का, वातावरण का, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवेश का—बाहर से उधार ली हुई रोशनी की चमक से चमत्कृत होती रहेगी वह कभी भी अपने वास्तविक गौरव को नहीं प्राप्त कर सकती। वह स्वतंत्र नही, परतंत्र है; 'स्ववीर्य-गुप्त' नही है, लंगड़ी है, वैशाखी के सहारे चलती है, अपने पैरों चलने की ताकत उसमे नही रही। कला वह है, साहित्य वह है जिसके गालों पर आन्तरिक स्वास्थ्य की लाली चमकती रहे, पाउडर और रुज की नही।

इन्ही बातो को ध्यान में रखकर कुछ मनीषियों ने साहित्यिक अध्ययन-प्रक्रिया को दो भागों मे विभक्त कर लिया है। आलोचना और प्राक् आलोचना (Pre-Criticism)। साहित्यिक अध्ययन की अंतिम कड़ी पर आलोचना है और इसके पूर्व जो अध्ययन है उसे प्रागालोचन व्यापार कह सकते है। अनुसंधान-कर्त्ता, विद्वान् (Scholar) प्रागालोचक है। प्रागालोचना मे भी कुछ वर्गों की कल्पना की जा सकती है। पर दो तो स्पष्ट ही हैं, विद्वान् और शोध-कर्त्ता। शोध-कर्त्ता विवेच्य कृति के लिये उपयुक्त सामग्री एकत्र करता है। इतिहास, संस्कृति, अर्थशास्त्र, धर्म, सबके पास जाकर रचना के सम्बन्ध मे ज्ञातव्य बातो का संग्रह करता है। शुद्ध पाठ की खोज करता है। जब तक विवेच्य कृति के वास्तविक स्वरूप की ही उपलब्धि न हो तब तक उसके सम्बन्ध मे किये गये सब विचार निराधार हैं, हवा मे गोली छोड़ने की तरह। इसलिये हम सर्वप्रथम अपने आधार को तो दृढ़ बना लें, विवेच्य कृति के शुद्ध स्वरूप को तो प्राप्त कर लें। आज करीब १०० वर्षों से हमारे पाठानुसधायक प्राचीन ग्रन्थों के शुद्ध पाठ के अनुसंधान मे निरत हैं और उनके परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ग्रन्थों के शुद्ध स्वरूप हमारे प्रगट होते आ रहे हैं। सूर, तुलसी, जायसी, महाभारत, रामायण, शेक्सपियर, चॉसर, स्पेन्सर के ऊपर शुद्ध पाठानुसंधान की प्रक्रिया आज भी पूरे तत्परत्व के साथ सक्रिय है।

अतः यदि विकास सूत्र का ग्राफ बनाया जाय तो वह इस प्रकार होगा। शोधकर्ता→ विद्वान→ आलोचक। शोधकर्त्ता, जिसके व्यापार मे शुद्ध पाठानुसंधान, इतिहास इत्यादि भी सम्मिलित है, कच्ची सामग्री के सकलन का काम

करते हैं। ऐसा विवरण उपस्थित करते हैं जो विवेच्य वस्तु के वास्तविक स्वरूप-निर्धारण मे सहायक हो सके, जो उसे सार्थकता प्रदान कर सके। इतना करके वे आलोचक को सब सामग्री hand over कर देते हैं ताकि वह उसका विश्लेषण करे, कलावस्तु की दृष्टि से उस पर विचार करे, उसका उपभोग करे और उसके सौन्दर्यमूलक तत्व का विवेचन करे, Aesthetic Verdict दे। यह भी सही है कि जिस ढग से ऊपर मैंने विचार किया है, वह एक तरह से अतिसाधारणीकरण (Over-Simplification). है, बहुत सीधे ढंग से विचार करना है। पर यह भी सही है कि इस तरह से विचार करने से समस्या को समझने मे थोडी सहूलियत हो जाती है। शोध-कर्ता साहित्यिक अध्ययन प्रक्रिया की मजदूरिन है जो भवन-निर्माण के लिये ईंट-गारा इत्यादि सामग्री ढोकर ला देती है। विद्वान इन्जीनियर है जो भवन-निर्माण करता है। आलोचक वह रईस है जो इस भवन में निवास कर उसका उपभोग करता है। उपभोग शब्द के आ जाने के कारण मुझे संस्कृत के एक सुभाषित "यथा खरः" स्मृत हो आता है जिसे हमने पहले उद्धृत किया है।

यहाँ पर किसी के प्रति अनादर की भावना नही। सभी अपने-अपने ढंग से बड़े ही महत्वपूर्ण कार्यों मे सलग्न हैं। पर कहने के लिये कहा जा सकता है कि "शोधकाः(लोकाः)शास्त्राण्यधीत्यापि अर्थेषु मूढ़ा खरवद्वहन्ति" पर "विद्वांसः चंदनभार—वाहिनः सुगंधं प्राप्नुवन्तिहि। आलोचकाः न तु केवलं चंदनभारवाहिनः चन्दनस्य भोक्तारोपि।"

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास मे अलंकार, गुण तथा रस का काव्य के साथ क्या सम्बन्ध है यह एक बड़ा ही विवादपूर्ण तथा रोचक प्रश्न रहा है। कुछ आचार्यों ने गुण और अलंकारों में भेद माना, कुछ ने नहीं। भट्टोद्भट ने इस भेद को मिथ्या कल्पना कहा। उनका कहना है कि सांसारिक गुण और अलकार मे भेद माना जा सकता है कि शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होता है और हारादि अलंकारो का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध। परन्तु काव्य की तो बात दूसरी है। काव्य में तो गुण तथा अलंकार दोनों की ही स्थिति समवाय सम्बन्ध से ही होती है अतः यहाँ दोनों मे भेद का उपादान नहीं किया जा सकता है।

"समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैषां भेदः"

दूसरी ओर वामन का मत है कि दोनों मे भेद को मानना आवश्यक है : "काव्यशोभाया कर्तारः धर्माः गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः"। उसी तरह गुण और रस मे भी भेदवादी तथा अभेदवादी दोनों मत है। ठीक इस पद्धति के अनुसार अनुसंधान, वैदुष्य (विद्वत्ता) तथा आलोचना के सम्बन्ध मे भेदाभेदवादी मत निश्चित किये जा सकते हैं।

रस तो काव्य की आत्मा है ही, इसमे प्रायः सभी सहमत हैं। आप एक काम करें। रस के स्थान पर आलोचना को रखें, विद्वत्ता को गुण के स्थान पर और अनुसंधान को अलंकार के स्थान पर ! मेरे कथन का आशय स्पष्ट हो जायेगा। अलंकारो का काव्य-रसास्वादन मे स्थान है अवश्य, पर वे अनिवार्य तत्व नही हैं, कही-कही तो वे रहने पर भी उत्कर्षाधायक नहीं होते :

"क्वचित्तु सन्तोऽपि नोपकुर्वन्ति"

रसोत्कर्षानाधायक अलंकार के उदाहरण तो सहज ही मे मिल जाते हैं। परन्तु ऐसे Research की भी कमी नही जो विवेच्य ग्रंथ या लेखक के मूल्यांकन मे "आरादुपकारक भी नही होते" साक्षादुपकारक होने की तो बात ही क्या है ? आजकल विशेषीकरण के युग में कम से कम विषय में अधिक से अधिक ज्ञानसंचय की प्रवृत्ति ने "तथ्यसंग्रह केवल तथ्यसंग्रह के लिये" (Accumulation of facts for the Sake of facts) की आकांक्षा ने रिसर्च के क्षेत्र को अनर्थक अलंकारों से लाद दिया है। शेक्सपियर के लाण्डरी बिल से, उसके वस्त्रो के रंग से, वह बैठकर लिखता था या सोकर लिखता था इन बातों से शेक्सपियर के काव्य पर क्या प्रकाश पड़ता है ? पर अनुसंधानकर्त्ताओं ने ऐसे-ऐसे तथ्यों के एकत्रीकरण करने में अपार परिश्रम किया है। आजकल किसी कवि की पृष्ठभूमि का विशद विवेचन करने वाले अनुसंधानकर्त्ता पर विचार करते हुए Northrop Frye ने कहा है :— Scholarship that begins with background finds it difficult to get to the foreground. Even a Shakespeare is of interest only as a writer; a fact, no matter how interesting, which throws no light upon a literary work is irrelevant to the student of literature as a student of literature. Briefly, the honest scholar is obliged to understand the relevance of his facts. अर्थात् "जो वैदुष्य पृष्ठभूमि से प्रारंभ करता है उसे अग्रभाग में

सामने आने मे कठिनाई होती है। शेक्सपियर भी हमारे लिये लेखक के रूप मे ही महत्वपूर्ण है। कोई तथ्य चाहे वह कितना ही मनोरंजक क्यों न हो जब तक वह साहित्यकृति पर कुछ प्रकाश नही डालता है साहित्य के विद्यार्थी को साहित्य के विद्यार्थी के रूप मे किसी काम का नही। संक्षेप मे एक ईमानदार विद्वान को तथ्यो की सगति का ध्यान रखना ही चाहिये। यही कारण है कि हमने अनुसंधान के उदासीन तथा तटस्थ तथ्यों को अलंकार के तोल पर रखा है। यदि कृति हमारे सामने प्राप्त है तो अनुसधान के तथ्य उसकी शोभा वृद्धि कर सकते हैं, कभी नही भी कर सकते है, कभी व्यर्थ के भार भी वन सकते हैं। आखिर वहुत सी कवितायें हैं जिनके रचयिता का ज्ञान हमे नही है पर उनके मूल्याकन तथा रसास्वादन मे कोई कठिनाई नही होती।

गुण और रस की वात लीजिये। किसी ने दोनों की भिन्न स्थिति स्वीकार की है, किसी ने दोनों को अभिन्न माना है। पर इस सम्वन्ध में सवसे युक्तियुक्त तथा संगत विवेचन डा. नगेन्द्र का है। इन्होने गुण और रस को भिन्न ही माना है इसको हम अभी देखेंगे। देखना यहां आवश्यक भी है क्योकि हम यहा यही प्रतिपादन करना चाह रहे हैं कि जो भेद गुण और रस मे है प्रायः वही भेद स्कालर और क्रिटिक मे है। गुण और रस के विवेचन मे डा० नगेन्द्र कहते हैं—"रस और गुण दोनो मनस्थितियां है.........रस वह आनन्दरूपी मनस्थिति है जिसमे हमारी सभी वृत्तिया अन्वित हो जाती है... ...इधर गुण भी मनस्थिति है, कही दीप्त और कही परिव्याप्त।......परन्तु इन विकारो को पूर्णतः आह्लाद रूप नही कह सकते। यहां काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पारकर भोजकत्व की ओर वढ़ रहा है। अभी उसमे वस्तुतत्व नि.शेष नही हुआ—और स्पष्ट शब्दो मे हमारी चित्तवृत्तिया उत्तेजित होकर अन्विति की ओर वढ़ रही है। अभी इनमे पूर्ण अन्विति की स्थापना नही हुई क्योकि तब तो इसका परिपाक ही हो जाता जैसा भट्टनायक ने एक जगह सकेत किया है। वह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारंभिक स्थिति है जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाये तो सरलता से रस परिपाक की प्रक्रिया मे रस दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहां हमारी चितवृतिया पिघलकर, दीप्त होकर या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिये तैयार हो जाती हैं।"

हम यही से कुछ शब्दों का आधार लेकर विद्वत्तालोचना-पृथक्त्व के सम्बन्ध में अपना मत स्पष्ट करना चाहते हैं। साहित्य विवेचन प्रक्रिया में वैदुष्य आलोचना की प्रारम्भिक स्थिति है। विद्वान् गुणज्ञ है जो रसास्वादन करना प्रारंभ कर ही रहा है। वह भावकत्व की स्थिति को पारकर भोजकत्व की स्थिति की ओर बढ रहा है। विद्वान् गुणज्ञ है, आलोचक रसज्ञ। इसलिये आलोचक के लिये संस्कृतसाहित्य मे भावुक, रसिक, सहृदय इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। साहित्य के अध्ययन क्षेत्र मे आलोचक, आलोचना, समीक्षक, समीक्षा इत्यादि शब्दों का प्रयोग आधुनिक युग की उपज है जबसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने अपने प्रभुत्व की स्थापना करने की चेष्टा प्रारंभ की है।

ऊपर की पंक्तियों मे रूपक की भाषा में शोध-कर्ता, विद्वान् तथा आलोचक के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इनमे से कोई भी अन्य क्षेत्राधिकारभाक् नही है, न तो कोई किसी क्षेत्र पर ही अन्य-विवर्जित अधिकार जमा सकता है और न तो कोई किसी अधिगम-प्रणाली विशेष पर ही एकस्वता का दावा कर सकता है। सभी किसी साहित्यिक कृति या विषय को अध्ययन का केन्द्र बनाते हैं। सभी बहिरंग अथवा अंतरंग साक्ष्यों का सहारा लेते हैं, सभी तथ्य तथा तर्क की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखते है। तथ्यसंग्रह मे सभी परिशुद्धता तथा समापन विश्रान्तावधि (Exhaution) का सभी ध्यान रखते हैं। परिशुद्ध तथ्य संग्रह तथा समापन-विश्रान्तावधि सूचनाओं की अनिवार्यता पुस्तकालय मे भी उतनी ही आकांक्ष्य है जितनी प्रयोगशाला मे। कोई भी आलोचक विद्वान् इसका नहीं होना गवारा नही कर सकता। विद्वत्तापूर्ण ज्ञान के अभाव में किसी विषय का सारतत्व-निरूपण दृष्टि की सनसनाहट से अधिक कुछ नही हो सकेगा। संश्लेपण की बात खपुष्पवत् ही रहेगी और किसी कविता की आलोचना सहज ही स्वतन्त्र कल्पना की उड़ान या अस्तित्व-विहीन वस्तु बन जायेगी।

हमारा विश्वास है कि अनुसंधान, वैदुष्य तथा आलोचना तीनो एक ही पथ के पथिक हैं; एक ही साधना में निरत हैं; तीनो को ही पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है; तीनों मे भूषण-भूष्य-भाव है: अलकार-अलकार्य स्थिति है। यदि कुछ विशेष बातों को छोड़ दिया जाय जैसे परिशुद्ध-पाठ निर्धारण, तिथि तथा लेखक-विवाद (जो शोध का सुरक्षित क्षेत्र कहा जा सकता है) तो आलोचना की सीमा मे वैदुष्य तथा शोध को सहज ही सम्मिलित किया जा सकता है।

ऊपर की पंक्तियों मे मैंने आलोचना को व्यापक तथा शोध एवं विद्वत्ता या वैदुष्य को व्याप्य कहा है अर्थात् आलोचना को श्रेष्ठतर भव्यतर स्थिति एवं प्रतिष्ठा प्रदान करने की चेष्टा की है। ये पंक्तियां बहुत पहले लिखी जा चुकी थी। अभी हाल ही मे George whalley का scholarship and criticism नामक महत्वपूर्ण लेख पढने को मिला। मुझे यह देख कर आश्चर्यपूर्ण आह्लाद हुए बिना नही रहा कि वे भी सब ले देकर मेरी तरह ही मेरी बातो का समर्थन कर रहे हैं। हां, उनकी शैली, विषय प्रतिपादन का ढग अधिक गम्भीर सारगर्भित अतः प्रभविष्णु है और ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है। चूंकि वह बात एक दूसरे ढग से एव अंग्रेजी जैसी समृद्ध भाषा के माध्यम से कही गयी है अतः ऐसा भी लगता है कि कोई दूसरी ही बात कही गयी हो। विषय को अधिक गहराई से देखने तथा समझने के लिये जार्ज ह्वेली के विचारों को समझ लेना अच्छा होगा।

ह्वेली कहते हैं कि "The end of criticism is knowing; the end of scholarship is knowledge. The unpardonable sin in scholarship is to be wrong; one would say that in criticism unpardonable sin is to be right. अर्थात् "आलोचना का ध्येय है ज्ञान प्राप्त करते रहना; विद्वता का ध्येय है ज्ञानप्राप्ति। विद्वत्ता के लिये गलत बात करना अक्षम्य अपराध है तो आलोचना ठीक-ठीक बात कहने को अक्षम्य अपराध समझती है।" यहां पर Knowing तथा Knowledge इन दो शब्दों के सूक्ष्म भेद को समझ लेना आवश्यक है। Knowing सद् प्रत्ययान्त है और Knowledge निष्ठा प्रत्ययान्त है। प्रथम मे ज्ञानप्राप्ति की क्रिया सतत सक्रिय है; दूसरे मे ज्ञानप्राप्ति की क्रिया समाप्त हो गयी है, सर्वज्ञानारम्भ स्वायत्त हो गया है, अब कुछ शेष रह ही नही गया। प्रथम भवन्, गच्छन् हैं, दूसरा भूतः, गतः है। प्रथम में हो रहा है, जा रहा हैं Continuous हैं, दूसरे मे हो गया है, जा चुका है, Perfect है। तुलनायें सदा एकागी तथा अधूरी होती हैं पर उनके बिना काम भी नही चलता। तुलना के सहारे बात को हृदयगम करने में थोडी सुविधा हो जाती है। अतः मुझे आनन्दवर्द्धन की वे पक्तियां याद आ रही हैं जहां उन्होने सहृदय की परिभाषा दी है। संयोग की बात है कि अंग्रेजी के Critic शब्द का कुछ सही रूपान्तर सहृदय ही होता है। अतः आनन्दवर्द्धन द्वारा उल्लिखित सहृदय की परिभाषा देख ही लें: "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-

योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।" अर्थात् "जिन व्यक्तियों का मन मुकुर काव्यानुशीलनाभ्यास के कारण विशद हो गया है और जो कवि के हृदय-सवाद-भाक् है (हृदय की धड़कन को सुनने की क्षमता रखते हैं) और जिनमें वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता हो, (वर्ण्य विषय के साथ तन्मय होने की योग्यता हो, क्रियातत्पर होने की नहीं) वे ही सहृदय हैं। यहां पर सबसे प्रमुख शब्द वर्णनीयतन्मयभवनयोग्यता है। आनन्दवर्द्धन स्पष्ट कह रहे हैं कि सहृदय के लिये वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ही पर्याप्त है। आगे बढ़कर क्रियातत्परत्व योग्यता की आवश्यकता नहीं। यदि वह क्रियातत्पर होता है तो वह सहृदयेतर पद्धति है।· भले ही वह सहृदय से आगे बढ़कर हो या घट कर पर वह शुद्ध सहृदय नहीं। सहृदय की चित्तावस्था Knowing की है, Knowledge की नहीं। वह जानता रहता है, जान नहीं गया रहता। जान जाने के बाद क्रिया समाप्त हो जाती है, विश्रामस्थल प्राप्त हो जाता है, प्रश्न का उत्तर मिल गया रहता है। पर आलोचना में ऐसी स्थिति नहीं आती है। वहा उत्तर नहीं मिलता, मिलता रहता है। एक उत्तर दूसरे प्रश्न को सामने लाता रहता है। इस तरह सतत प्रवाह कायम रहता है। उत्तर नश्वर होता है, प्रश्न जीवन का शाश्वत तत्व है। जीवन प्रश्नमूलक है, मृत्यु ही उत्तरमूलक हो सकती है। आलोचना प्रश्न है। वह कहती है : "प्रश्न हूं, उत्तर नहीं हूं। क्योंकि मैं नश्वर नहीं हूं।"

चित को समाधान आलोचना से भी मिलता है और विद्वत्ता से भी। प्रश्न तथा जिज्ञासा ही आलोचक तथा विद्वान् दोनों को ही प्रेरित तथा कार्य-प्रवृत्त करती है और समाधान उपस्थित करती हैं। पर दोनों के समाधानों के रूप मे अन्तर होता है। आलोचना समाधान तो उपस्थित करती है सही पर इतना होने पर भी चित्त को उसी प्रश्नात्मक अवस्था पर पहुंचा देती है जहां से वह प्रारम्भ हुई मानों गाय नये खूटे को तुड़ाकर फिर पुराने बथान पर चली जाती है। विद्वत्ता चित्त को नये खूंटे पर बांध देती है।

समालोचक नजा के आलम मे रहता है विद्वान् मजा का आलम पसंद करता है। मजा दूसरी चीज है, नजा दूसरी। जिस समय प्राण निकलते रहते हैं, बिल्कुल निकल नहीं गये रहते, वह नजा का आलम है। मजा में प्राण निकल गये रहते है। वह सिद्ध वस्तु है। यही विद्वत्ता को प्रिय है। बस इद-मित्यम्। दो टूक बात कह दो। पर आलोचना की बात सदा सिध्यमान रहती है, Tentative होती है।

विद्वत्ता तथ्यों का संग्रह तथ्यों के लिये ही करती है। वहां पर तथ्यों का अपना स्वतन्त्र महत्व होता है, चाहे वे कितने ही तुच्छ, नगण्य तथा अनुपयोगी क्यो न हो। शेक्सपियर अपने वस्त्रों की धुलाई मे कितना खर्च करते थे, वे कैसे लिखते थे—बैठकर या सोकर, वे किस तरह के कपड़े पहनते थे, इन सब बातों का ज्ञान विद्वानों के लिये महत्वपूर्ण हो सकता है। ज्ञान सदा ही उपयोगी होता है। पर आलोचना के लिये इसका क्या महत्व है ? वहां पर कभी-कभी अज्ञान ही महत्वपूर्ण हो जाता है। आलोचक को कभी-कभी ज्ञानाधिक्य के प्रति सचेष्ट होकर आख मूंद लेनी पडती है, कान बन्द कर लेने पड़ते हैं। "जाको प्रिय न रामबैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।"

मेरे जानते आलोचना व्यापार भी सृजनात्मक साहित्य की श्रेणी मे पडता है। अतः, जो नियम-प्रकिया सृजन के लिये उपयोगी होती है वही यहा पर भी उपयोगी होनी चाहिये। सृजनात्मक साहित्य के रचयिताओ की गवाही पर ही हम कह सकते हैं कि ज्ञानाधिक्य से सृजनात्मकता कुंठित भी हो जा सकती है। अतः, सृजक को विवेक से काम लेकर यह तय करना चाहिये कि कितने का ग्रहण किया जाय और कितने का परित्याग। हेनरी जेम्स ने अपने उपन्यास Spoils of Poyntion की रचना के बारे मे कहा है कि एक बार वे किसी प्रीतिभोज मे सम्मिलित हुए। वहां पर उन्होने एक मां और उसके पुत्र के बीच मे बढते हुए वैमनस्य की कथा सुनी। पहले दोनो मे बडा प्रेम था। पर आसन्नमृत्यु पिता के फरनीचर के उत्तराधिकारी के प्रश्न पर दोनो एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं। बस इतनी सी बात का ज्ञान हेनरी जेम्स के उपन्यास सृजन के लिये पर्याप्त था। उन्होने कहा है कि जब लोगों ने मां-बेटे की लड़ाई की कथा के विस्तार का वर्णन करना चाहा उन्होने सुनना बन्द कर दिया। क्योकि इसके द्वारा उनकी कल्पना की सक्रियता मे बाधा भी पड़ सकती थी। इसी तरह पौर्वात्य तथा पाश्चात्य साहित्य से अनेको उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां लोगो ने अनुभव किया है कि सृजन के लिये निस्सीम ज्ञान आवश्यक नही, वहां ज्ञान की सीमा ही अपेक्षित है।

साहित्य सृजन मे आत्मसंयम की जितनी आवश्यकता है उतनी बहुत कम स्थानों पर पड़ती है। 'रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्'......"लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इन पंक्तियो के द्वारा कवि ने राम के बारे मे या पार्वती के बारे मे जितना कहा उतना क्या वह वर्णनबाहुल्य से कह

सकता था ? यह नही कि कवि को राम की दशा का या पार्वती की हृदय-तरंगो का विस्तृत ज्ञान नही था पर वह जानबूझकर अज्ञान की शरण में गया। उसी तरह आलोचक को आलोच्य कृति के सम्बन्ध मे जानकारी तो होनी ही चाहिये पर इसकी भी परख होनी चाहिये कि आलोच्य कृति के लिये किस जानकारी की जरूरत नही है। कमरे में अंधेरा है। अथेलो हत्या करने के लिये डेसीडोमिना के मुख के सामने दीपक ले जाता है। आलोचक करुणा, भय इत्यादि भावों से अभिभूत होता है, कहिये उसको इनका ज्ञान होता है। पर इतना ज्ञान होकर ही वहां नही रह जाता। वह यह भी जान लेता है कि दीपक से डेसीडोमिना के केशकलाप में आग नही लगी। यह ज्ञान स्पष्ट ही आलोचक के लिये अनावश्यक है। जो कुछ भी ज्ञान हो must arise from, dictated by, and directed towards the experience within the Shakespear's scene.

मतलब यह कि जो कुछ भी ज्ञान की सामग्री हो उस पर आलोच्य कृति का अनुशासन रहना ही चाहिये। संभव है ज्ञान की सामग्री आलोच्य कृति से दूर हटती सी दिखलाई पड़े पर वह जितनी ही दूर जायेगी उतनी ही अपनी मूल आलोच्य कृति की ओर मुड़ने की प्रवृत्ति भी उसमे बढती जायेगी। पर विद्वत्ता की जो ज्ञानोपलब्धि होती है उसे अपने मूल के प्रति मुड़ कर देखने की प्रवृत्ति नही होती, वह अपने मूल से ही विकसित हुई हो पर उसकी स्वतन्त्र जीवन प्रणाली विकसित हो जाती है, वह स्वतन्त्र जीवन जीने लगती है। पर आलोचना कभी भी यह परिस्थिति उत्पन्न नही होने देगी। उसके सारे व्यापार आलोच्य साहित्यिक कृति के प्रभाव क्षेत्र मे ही सम्पादित होगे। आलोचना एकोन्मुखी होती है, विद्वत्ता बहुमुखी होती है। आलोचक एक भक्त है जो भोज्य सामग्री को भगवत् प्रसाद के रूप मे ही ग्रहण कर सकता है; जो चीज भगवान को समर्पित नही है, और समर्पित होने पर भगवान को ग्राह्य नहीं है वह उसे कभी स्वीकार नही करेगा। विद्वान् भी स्नानध्यान करके ही अन्न-जल ग्रहण करेगा, पर मन्दिर मे जाकर वही से प्रसाद ग्रहण करना उसके लिये अनिवार्य नही। वह अपने घर की रसोई को भी "त्वदीयं वस्तु गोविन्द" कहकर ग्रहण कर लेगा। रह गई शोधक की बात। उसके लिये स्नान ध्यान की कोई आवश्यकता नही, वह बैड टी भी ले सकता है, होटल में भी भोजन कर सकता है, भले ही वह अशोक होटल हो। उसे अपनी भूख की तृप्ति भर से मतलब है।

२

तुलनात्मक साहित्यिक शोध

T. S. Eliot ने अपने युगान्तकारी प्रसिद्ध Tradition and the Individual Talent नामक निवन्ध मे लिखा है। No Poet, no, artist of any art has his Complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relations to the dead poets and the artists. You can not value him alone. You must sec him in for contrast and combination among the dead. अर्थात् "किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता एकान्तिक रूप से नही जानी जा सकती। उसका महत्व तथा मूल्यांकन वास्तव मे स्वर्गीय कवियों तथा कलाकारों के सम्वन्ध का मूल्यांकन है। आप उसे अकेले रखकर उसका मूल्याकन नही कर सकते। उसे स्वर्गीय (कवियो तथा कलाकारों) के सामने, साम्य या वैपम्य के लिए, रखना ही पडेगा।" इलियट शोध के सन्दर्भ मे ये वातें नही कर रहे थे। उनकी दृष्टि समालोचन तक ही सीमित थी। परन्तु शोध और समालोचना, दोनों यद्यपि आगे चलकर साथ छोड देते हैं पर कुछ दूर तक साथ चलते हैं। अतः जहां तक ये दोनों साथ चलते है वहाँ तक शोध के क्षेत्र मे तुलनात्मक अध्ययन का महत्व स्वीकार करना ही होगा।

इलियट जिस समय अपना निवन्ध लिख रहे थे उस समय उनका उद्देश्य परम्परा (Tradition) का स्वरूप स्पष्ट करना था। अतः उन्होने तुलना के लिए स्वर्गीय कवियों अथवा कलाकारों का ही उल्लेख किया। तिस पर भी वे एक ही भाषा के कवियो की ही वात कर रहे थे, मसलन अंग्रेजी भाषा के कवियो की। परन्तु तुलनात्मक अध्ययन पर इस तरह की कोई सीमा नहीं खीची जा सकती। हम दो जीवित कवियों की, उदाहरणार्थ निराला, पंत की भी तुलना मे प्रवृत्त हो सकते है। दो भाषाओं के स्वर्गीय या जीवित सम-कालीन कलाकारो को सामने सामने रखकर भी देख सकते है। कवीर, नानक, दादू का तुलनात्मक अध्ययन; हिन्दी मराठी के सन्त कवियों का

तुलनात्मक अध्ययन, मराठी सन्त कवि नामदेव, ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम और हिन्दी सन्त कवि कबीर, नानक एवं दादू का तुलनात्मक अध्ययन, हिन्दी गुजराती सन्त काव्य का तुलनात्मक अध्ययन; २० वी शताब्दी के हिन्दी बंगला साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन; हिन्दी तथा अंग्रेजी के ऐतिहासिक उपन्यास; भारतेन्दु और नर्मद एक तुलनात्मक अध्ययन; मैथिलीशरणगुप्त और वल्लतोल का तुलनात्मक अध्ययन ऐसे विषयों पर आज हिन्दी के विद्वान् अनुसंधान में प्रवृत्त हैं।

यह भी याद रखना चाहिए कि हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययनों की सूची इतनी ही छोटी नही है। डा० उदयभानुसिंह ने 'अनुसंधान का विवेचन' नामक पुस्तक में तुलनात्मक अध्ययन के वर्ग में १२९ विषयों की सूची दी है। अन्य वर्गो के अन्दर दी गई सूचियों से यदि तुलनात्मक अध्ययनों को लेकर इसमे जोड़ दें तो इसकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो जायेगी।

तिस पर भी यदि प्रभाव-निरूपक विषयों का, जैसे अमुक का अमुक पर प्रभाव वाले विषयो की भी इसी मे गणना करले तो शोध का यह अंश बहुत बड़े क्षेत्र को अपनी सीमा में घेर लेगा। अभी तक दो भिन्न व्यक्तियो के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन होता रहा है। पर तुलनात्मक अध्ययन में एक और प्रवृत्ति भी उभर रही है। एक ही कवि के दो पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन। उदाहरणार्थ, वर्ड्सवर्थ के पूर्वार्घ और उत्तरार्घ का। पंत, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, अज्ञेय इत्यादि का भी ऐसा अध्ययन उपस्थित किया जा सकता है। मतलब यह कि तुलनात्मक अध्ययन शोध-क्षेत्र का महत्वपूर्ण अंश होता जा रहा है। मैं भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओ की बात तो नही कर सकता क्योंकि मुझे उनका ज्ञान नही। पर मेरा ख्याल है कि वहां भी ऐसी प्रवृत्ति अवश्य होगी। अंग्रेजी में तो है ही। Comparative study की बात तो हमने वही से सीखी है। पहले यह प्रक्रिया आलोचना के क्षेत्र में चलती थी। अब हम उसे शोध के क्षेत्र मे ला बैठा रहे हैं।

अभी १०, १५ दिन पूर्व की बात है। दीपावली के दिन 'रामाश्यामा' करने के लिए मैं अपने सहयोगी मित्र के यहां गया था। वहीं पर एक अंग्रेजी साहित्य के नवयुवक विद्वान ने मुझे एक किताब दिखाई जिसका भला सा नाम था Modern British Criticism। अमेरिका से प्रकाशित ग्रन्थों की साज-सज्जा की बात न पूछिये। ऐसी सुन्दर कि आखें देखती ही रह जांय। मेरे मन मे न जाने क्या आया मैने कहा, अब मुझे हिन्दी मे शोध कार्य कराना होगा

तो मैं अपने छात्र को विषय लेने को कहूँगा—हिन्दी आलोचना पुस्तक प्रकाशन पर अमेरिकन आलोचन-संग्रह का प्रभाव। मैं आज १०, १५ वर्षों से अमेरिका के पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय मे एक विशेष प्रवृत्ति को उभरते हुए देख रहा हूं। और इस पर थोड़ा खिन्न भी हूं। वह प्रवृत्ति यह है—आप T. S. Eliot, Ransom, Richards, Empson, Winters इत्यादि के कुछ निबन्धों को ले लीजिए। प्रारम्भ मे ४, ५, पृष्ठो की चलती भूमिका लिख दीजिये। निबन्धो मे Tradition and Individual Talent अवश्य होगा। बस पुस्तक तैयार। हाँ, Get up इत्यादि ऐसा होगा कि बस कलेजे मे तीर की तरह चुभ जाय। हिन्दी के प्रकाशक, विशेषत: दिल्ली के, इस अमेरिकन पद्धति का सफलता-पूर्वक अनुकरण कर रहे हैं। अत., हिन्दी और अमेरिकन आलोचना पुस्तक-प्रकाशन एक तुलनात्मक अध्ययन विषय शोध के लिए रख लिया जाय तो क्या आपत्ति हो सकती है ?

मुझे ज्ञात नही कि हिन्दी मे तुलनात्मक अध्ययन के नाम को लेकर सामने आने वाली कौन-सी सर्वप्रथम थीसिस थी। मेरी बात को ठीक समझा जाये। मैंने कहा कि कौनसी थीसिस थी। वैसे तुलनात्मक अध्ययन तो पहले भी होता ही था। देव और बिहारी की तुलना को लेकर जो पैंतरेबाजिया हुईं, बुद्धितूणीर से जो तीर चलाये गये उससे हम पूर्ण परिचित हैं। पर किसी ने इन सारे प्रपंचों को तुलनात्मक जैसी गुरु विशिष्ट संज्ञा से अभिहित नहीं किया। पर अब तो यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ से समन्वित हो गया है। उसके पीछे एक इतिहास है। असहयोग, सत्याग्रह इत्यादि शब्द पहले भी थे, पर भारतीय राजनीति में गांधी जी के पदार्पण करने के बाद ये शब्द एक नूतन अर्थ देने लगे हैं। ठीक उसी तरह शोधार्थियो ने तुलनात्मक शब्द को अपने क्षेत्र में लाकर नये रंग में रग दिया है। समय आ गया है कि इसकी सीमा तथा व्यापकत्व को समझने का प्रयत्न किया जाय। नही तो बाद मे जो तुलनात्मक पलटन खड़ी होगी उसे सम्भाल पाना कठिन हो जायेगा।

तुलनात्मक अध्ययन और शोध—

इसमे अर्थतत्व की दृष्टि से तीन शब्द हैं—तुलना, अध्ययन और शोध। सर्वप्रथम हमे देखना है कि अध्ययन और शोध मे क्या अन्तर है। कौनसी वह विभाजक रेखा है जो दोनो को पृथक् कर देती है। कहा अध्ययन समाप्त होता है और शोध प्रारम्भ होता है। अनुशीलन, शोध, अनुसधान, गवेषणा इत्यादि शब्दो के विशिष्ट अर्थो के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा हिन्दी मे

तो की गई है। पर अध्ययन के स्वरूपविवेचन की ओर विद्वानों का ध्यान अभी गया नही है। यह आश्चर्य की ही बात है क्योकि हिन्दी में अध्ययन की जितनी पुस्तके प्रकाशित हुई हैं उतनी और कही नही। चन्द से लेकर महादेवी तक सभी कवियों पर दो-तीन अध्ययन तो प्रकाशित हो ही गये होंगे। हाँ, अनुशीलन शब्द की ओर लोगो का ध्यान अवश्य गया था। पर इसका कारण यह हो सकता है कि इलाहाबाद से अनुशीलन नामक शोधपत्रिका निकलती है। गवेषणा को अर्थ-विचार के प्रसंग मे अर्थ-विस्तार के उदाहरण के रूप में उपस्थित कर भाषा वैज्ञानिकों ने इसे महत्वपूर्ण बना दिया। अनुसधान शब्द मे जो एक नैसर्गिक आभिजात्य है, साथ ही 'धा' धातु की कृपा से रखना, स्थिर करना, धारण करना इत्यादि अर्थों का जो समावेश हो गया, उसके चलते इसमें वैज्ञानिक रंग आ गया है। और आप जानते ही हैं कि यह विज्ञान का युग है। अतः अनुसंधान शब्द के स्वरूपविश्लेषण की ओर विद्वानो की दृष्टि गई। अन्वेषण को तो उपनिपदों ने तीन प्रकार की एषणाओं-वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकेषणा से सम्बद्ध कर इतना आकर्षक बना दिया। शोध शब्द तो खुलकर विज्ञान का साथ देता है। विशेषतः, वह विज्ञान की प्रविधि और प्रक्रिया को हमारे मानस पटल पर भी ला देता है। विज्ञान मुख्यतः प्रक्रिया तथा पद्धति की वस्तु है। वैसे विचार तो सभी करते हैं, मानवमात्र ही विचारशील प्राणी हैं। पर विचार करने के ढंग में अन्तर होता है। वैज्ञानिक की विचार-सरणि की प्रत्येक कड़ी कारण-कार्य की शृङ्खला में जुड़ी रहती है। विज्ञानेतर विचार के लिए यह कसावट अनिवार्य नही है। वहां कुछ शैथिल्य भी हो तो चलता है। यही कारण है कि शोध शब्द इतना प्रिय हो गया। रह गया बेचारा अध्ययन। यह दो कारणों से उपेक्षित रहा। एक तो यह study शब्द की अंगुली पकड़कर खड़ा हुआ। अंग्रेजी में स्टडियो की एक परम्परा ही है। यह नही कि यह शब्द पहले नही था। था तो सही, पर यो ही पड़ा हुआ था जैसे सब शब्द पड़े रहते थे। टुकदम टुकदम चलता था। पर study की छाया पाते ही वह जवान हो गया। शोध के छात्रो को बतलाने की आवश्यकता नही कि भक्ति तो थी बूढी जर्जर। वृन्दावन में जो आई कि जवान हो गई। दूसरी बात यह कि इस शब्द के मूल मे निसर्गतः कलात्मकता के प्रति पक्षपात-सा है, वह इसे वैज्ञानिकता के साथ दूध और शक्कर के साथ हिलमिल जाने से रोकता है। हम अध्ययन कर रहे हैं इससे हमारे व्यापार की गम्भीरता का भी पता चलता है, उसके महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है, उसकी उपलब्धियों का भी

ध्यान आ जाता है, पर ऐसा लगता है कि इसमे २+२=४ वाली ठोस ईदृक्ता या इयत्ता का बोध नहीं होता। अध्ययन, अनुशीलन और शोध इन तीनों शब्दों को इसी क्रम से रखिए। अध्ययन शोध से दो पद दूर पड़ता है। जैसे प्लेटो का काव्यानुकरण सत्य से दो पद दूरी पर रहता था। क्योंकि वह अनुकरण का अनुकरण था। अध्ययन और अनुशीलन के बीच में भी दूरी थी। मुझे ऐसा लगता है कि शोध के प्रभाव-क्षेत्र में आने पर अध्ययन आगे बढ़कर अनुशीलन के परिपार्श्व मे आ जाता है, अध्ययन और अनुशीलन के बीच का फासला कम हो जाता है पर फिर भी अध्ययन अनुशीलन में अपने अस्तित्व को विलीन नही कर देता।

अब हम तुलना शब्द पर आ जाते हैं। तुलना शब्द के व्यौत्पत्तिक अर्थ पर न जाकर, उसके व्यावहारिक अर्थ पर ही आते हैं। जब हम दो कवियो को या दो पुस्तको की या दो युगो की तुलना करते हैं तो हम दो काम करते हैं। प्रथमतः, हम मन मे कुछ items रख लेते हैं और उन्ही के आधार पर दोनो मे साम्य, वैषम्य के सूत्रों को ढूंढ कर, प्रयोग-कौशल या अकौशल को देखकर दोनो का तारतम्य निश्चित करते हैं। यह भी देखते है कि दोनों में अधिक मौलिक कौन है। दूसरा काम यह भी करते हैं कि दो तुल्यमान वस्तुओं मे से एक को प्रधान मान लेते हैं और दूसरे को उसकी अपेक्षा में देखते हैं। जैसे किसी के शोध का शीर्षक है—मैथिलीशरण गुप्त और सुब्रह्मण्यम् भारती, और दूसरे शोधार्थी का विषय है: सुब्रह्मण्यम् और मैथिलीशरण गुप्त। आपाततः दोनो मे कुछ अन्तर नही मालूम पड़ता है। पर विचार का वह केन्द्र-विन्दु, जहां से इन दोनो शीर्षकों ने अपना रूप ग्रहण किया है, भिन्न है। पहले शोधार्थी के हृदय में मैथिलीशरण गुप्त की प्रधानता है और दूसरे के हृदय मे सुब्रह्मण्यम् भारती की। संस्कृत के वैयाकरणो में राज्ञः पुत्रः तथा राजपुत्रः, कृष्णः सर्पः तथा कृष्णसर्प मे कोई अर्थ भेद है या नही, दोनो सामानार्थी है या दोनों में कुछ अन्तर भी है, इस प्रश्न को लेकर बड़ा शास्त्रार्थ चला है और अन्त मे तय यही हुआ कि नही, दोनो का एक ही अर्थ नही है। राज्ञः पुत्रः मे राजा की प्रधानता है पर राजपुत्रः मे पुत्र की। वही बात कुछ Modification के साथ इन दोनो शीर्षकों मे है। एक मे गुप्त प्रधान है दूसरे में भारती। किसी विषय का शीर्षक अलग से चिपकाया गया पदार्थ नही होता वह पूरे प्रबन्ध का सक्रिय सावयविक अंश होता है।

हमने दो बाते जानी। अध्ययन शोध के क्षेत्र मे जाकर भी पूर्ण शोध मे अपने को विलीन नही करता। वह criticism, आलोचना से आगे अवश्य

है पर शोध से पीछे है। उसे सामीप्य तो प्राप्त है पर सायुज्य नही। वह शोध बन तो रहा है, पर बना नही है। वह continuous की अवस्था मे है, Present perfect या past की अवस्था को प्राप्त नही कर सका। उसमें नजा का आलम है, मजा का नही। मतलब यह कि अभी तक वह साहित्यिकता, सृजनात्मकता, रसात्मकता का मोह छोड़ नही सका है। "मनहु मन चलि ज़ाति ह्वैं, वा यमुना के तीर"। वह पूरी तरह से दूध नही छोड सका है। दूसरा बंधन इस पर एक और भी है जिसकी चर्चा अभी की गई है। वह एक तो प्रधानता देता है। अतः, इसकी फितरत मे ही आग्रह है जिससे पिण्ड छुड़ाना इसके लिये कठिन हो जाता है और शोध की वैज्ञानिकता की यह मांग है कि आग्रह का सर्वथा परित्याग किया जाय। हमारे सारे मापदण्ड वस्तुनिष्ठ हो, आत्मनिष्ठता (subjectivity) निषिद्ध है। आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः।"

अब इन दो आग्रहों के परिणाम पर विचार करें। सबसे पहले प्रधानता वाली बात लें। जब हम दो कवियों की पारस्परिक तुलना को अध्ययन का आधार बनाते है तो निश्चय ही ऐसे कवि होगे जिन्होने उच्चकोटि का काव्यसृजन किया हो और उनकी रचनाओं द्वारा साहित्य को नया दिशा-निर्देश मिला हो। शायद ही किसी ने नगण्य लगने वाले दो कवियों की तुलना की हो। यदि वह उच्चकोटि का नही भी है तो उसकी उच्चता प्रतिपादित करनी होगी। इन दो तुल्यमान कवियो मे एक के प्रति पक्षपात के भाव को लेकर शोधकर्ता गण चलते हैं। नतीजा यह होता है कि प्रधान कवि के उत्तुंग गौरव के सामने दूसरे कवि के महत्व को स्पष्टतापूर्वक सामने खुलकर आने का अवसर नही मिल पाता। तुलनात्मक अध्ययन के सब शोध प्रबन्ध मुझे देखने को नही मिले हैं। पर मेरा अनुमान है कि उनके अवलोकन के बाद मेरी बात सत्य निकले।

तुलनात्मक अध्ययन के लिये, विशेषतः जबकि दो भाषाओं के कवियों की साहित्यविधाओ की तुलना का प्रश्न शोधार्थी के सामने हो तो, यह आवश्यक है कि दोनों भाषाओं तथा साहित्य का उसे पूर्ण ज्ञान हो। पर यह विरल होता है। शोधकर्त्ता दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार किये बिना ही तुलनात्मक अध्ययन मे प्रवृत्त हो जाते है। आजकल दक्षिणी भाषाओं, जैसे—तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम् भाषाओं के साहित्य तथा हिन्दी भाषा के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन की प्रथा चल पड़ी है। पर मेरा अनुमान है कि ऐसे शोधार्थियों मे कम ही होगें, जिन्हे दोनो भाषाओं पर सम्यक् अधिकार

हो। मुझे एक बार मलयालम् तथा हिन्दी उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन की थीसिस देखने को मिली थी। शोधार्थी को डिग्री मिल तो गई पर डिग्री देने मे इस बात का भी ख्याल रखा गया था कि शोधकर्त्ता ने दक्षिणी होकर इतना किया है यह भी बड़ी प्रशंसा की बात है। मतलब यह कि यदि दोनो भाषाओ पर अधिकार न हो तो इस तरह का तुलनात्मक अध्ययन सफल नहीं हो सकता।

शोध कार्य तो होने मे रहा। अंग्रेजी अनुवादो के सहारे कब तक काम चलेगा। ऐसे बहुत से लोग है जो कहते हैं कि अग्रेजी मे विश्व की सारी भाषाओं की पुस्तको का अनुवाद प्रकाशित हो ही गया है। उसके सहारे ही विश्व साहित्य मे प्रवेश किया जा सकता है। ये लोग बहुत साहस से काम लेते हैं। कम से कम मुझमें इतना साहस नही आया है।

इन बातो के पश्चात् तुलनात्मक अध्ययन के कुछ खतरों पर भी विचार कर लेना चाहिये। ये निम्न प्रकार के हो सकते हैं। (1) किसी शब्द या किसी विचार मे हल्का-सा साम्य देखकर उसको ही बहुत महत्व दे बैठना। (ii) किसी कवि को छोटा या बड़ा बतलाने के लिए हर तरह के तर्क उपस्थित करना। (iii) एक कवि पर दूसरे कवि का प्रभाव दिखलाने वाले शोधको मे प्रभावित करने वाले कवि को सब पर छाये रहते देखने की प्रवृत्ति को उभारना। मैंने ऊपर कहा है कि प्रभाव दिखलाने वाले शोध-प्रबन्ध भी एक तरह से तुलनात्मक अध्ययन की श्रेणी मे ही रखे जा सकते हैं। जिस कवि का प्रभाव दिखलाने के प्रति हम अग्रसर होते हैं उसका सांगोपांग अध्ययन करना ही पड़ता है और उसके प्रति एक तरह से विशेषीकरण हो जाता है। परिणाम यह होता है कि शोधकर्त्ता को उस कवि की छाया सदा सब पर चारों ओर मडराती नजर आती है। एक ने लिखा है कि—The student of Gower, Greene, Gray or Galsworthy is likely to see the influence of his hero in the work of any or all later writers. Prof. Kaye once told me that one time some ten years before he published his edition of Bernard Mandeville's Fable of Bees–he could see or thought he could see, Mandeville's influence creeping out here, there and every where in the writings of Mandeville's successors.

अर्थात् गोवर, ग्रीन, ग्रे और गाल्सवर्दी के विद्यार्थियों में एक ऐसी मनोवृत्ति बन जाने की सम्भावना है कि वे किसी एक या सब परवर्ती लेखकों पर अपने नायक अर्थात् प्रिय लेखक का प्रभाव ढूंढने लगें। प्रोफेसर केयी ने एक बार मुझसे कहा था—Bernard Mandeville के Fable of Bees के प्रकाशन के १० वर्ष पूर्व उन्हे ऐसा लगता है कि बाद के सब लेखकों पर यत्र-तत्र और सर्वत्र ही Mandeville का प्रभाव है।

अंग्रेजी साहित्य से परिचय रखनेवाले व्यक्ति को शेक्सपियर बेकन विवाद (Shekespeare-Bacon Controversy) का ज्ञान अवश्य ही होगा। कुछ अनुसंधान कर्त्ता शेक्सपियर और बेकन के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। इसके जो परिणाम सामने आये वे आश्चर्यजनक हैं। कुछ उत्साही अन्वेषकों ने शैली के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि अधिकांश साहित्य जो शेक्सपियर के नाम से प्रचलित है वह बेकन की लेखनी का प्रसाद है। इसी शैली-तुलना वाली पद्धति का प्रयोग एलिजाबेथन युग के अन्य साहित्यकारों पर किया गया। परिणाम जो हाथ लगा वह बड़ा मजेदार था कि लीली, ग्रीन, मार्लो, नाशे, स्पेन्सर अर्थात् सबकी साहित्य-रचना पर बेकन का प्रभाव है। प्रोफेसर Manly अंग्रेजी साहित्य के अनुसधान-कर्त्ताओं मे बड़े प्रसिद्ध हैं। वे दस्तावेजो के पढ़ने, हस्ताक्षरो के पहचानने, लिखावट के शनाख्त करने इत्यादि मे विशेषता रखते थे। उन्होने एक बार कहा था कि लोग हैं जो बडे उत्साह से इस बात को प्रामाणित करते है कि शेक्सपियर-साहित्य की रचना बेकन ने की। पर उन्ही की पद्धति के आधार पर मैं प्रमाणित कर सकता हूं कि बेकन ने Chaucer के साहित्य का भी प्रणयन किया। यहां पर न जाने क्यों मुझे महादेवी वर्मा की एक कविता याद आ रही है :

मेरी लघुता पर आती है जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा।
उनके प्राणों से पूछो क्या वे पाल सकेंगे पीड़ा॥

ठीक महादेवी जी के शब्दों को लेकर बेकन के हिमायतियों के प्राणो से पूछा जा सकता है कि चासर बेकन नामक पीड़ा को पाल सकने की क्षमता उनमे है? हिन्दी मे अभी तक इस तरह को पीड़ा के पालने की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई है। सस्कृत मे है पर कम। पर चूंकि हमारा आधुनिक साहित्य अंग्रेजी से ही अधिक प्रभाव ग्रहण कर रहा है अत:, हमे इसकी सब वस्तुओं से परिचित रहना चाहिए। हिन्दी साहित्य इस दृष्टि से बहुत अच्छी परिस्थिति में है। सस्कृत-साहित्य-शोध का वह नैसर्गिक अधिकारी है। साथ ही आधुनिक युग

की उपज होने के कारण अंग्रेजी जैसे समृद्ध शोध-साहित्य का प्रभाव वह सहज ही ग्रहण कर रहा है। अतः, वह 'परिहरि वारि-विकार' सच्चे मार्ग का ग्रहण कर सच्चे शोध-हंस-संत का उदाहरण उपस्थित कर सकता है।

कहने का अर्थ यह है कि शोध-कार्य के साफल्य के लिए, चाहे वह तुलनात्मक अध्ययन हो अथवा किसी एक कवि का अध्ययन, बहुत ही सावधानी की आवश्यकता है। इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि बैकन इस तरह के साहित्य की रचना कर सकते थे। परन्तु आगे बढ़कर तत्कालीन युग के समान-धर्मा सब कवियों की जांच उसी आधार पर कर यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि बैकन को छोड़कर किसी में भी उस प्रकार की रचना करने की सामर्थ्य नहीं थी। और है यह बड़ा कठिन कार्य। प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-निष्ठ तत्व (subjective elements) होते हैं जो उसकी विचारधारा को, व्याख्या को एक विशिष्ठ निजी रंग में रंग देते है। कल्पना कीजिए कि देवदत्त प्रेमचन्दजी की शैली का अध्ययन कर रहा है और यज्ञदत्त प्रसाद की शैली का। यज्ञदत ने कुछ निष्कर्ष निकाले। अब देवदत्त उन निष्कर्षों का प्रयोग कर सकता है पर देवदत्त का कर्त्तव्य यह है कि वह उन निष्कर्षों को केवल प्रसाद तक ही सीमित न रखे परन्तु आगे बढ़कर उनकी आजमाइश, सुदर्शन, कौशिक, चण्डी प्रसाद हृदयेश तथा अन्य लेखकों पर भी करे।

तुलनात्मक अध्ययन का उपयोग एक और प्रकार के शोध के लिए भी किया जाता है। किसी रचना का लेखक कौन है? इस बात का निर्णय करने के लिए मान लीजिए कि अनुसन्धान के दौरान में किसी को पाण्डुलिपि प्राप्त हुई पर उसका लेखक कौन है इसका पता नहीं चलता। अब इसका पता कैसे चले? इसके कितने उपाय हैं। सामग्री, स्याही, लिपि, सजावट, भाषा इत्यादि की स्थिति से निर्णय हुआ कि इसकी रचना अमुक सम्वत् के आस-पास हुई होगी, मतलब गुप्त काल में; पर यह किसकी रचना हो सकती है; कवि के अन्य ग्रन्थों की शैली, रचना, कल्पना, छन्द, प्रयोग, बिम्ब-विधान, अलंकार नियोजन से इस पुस्तक की तुलना कर लेखक के निर्णय करने में सहायता ली जा सकती है। 'ऋतु संहार' की शैली को ही देखकर लोगों ने इस बात पर शंका प्रकट की थी कि यह शायद कालिदास की रचना न हो। तुलसी, सूर इत्यादि पर शोध करते समय कुछ ग्रन्थों के लेखकत्व के बारे में शंकायें और अभिशंकायें की गई हैं। इतना ही नहीं, एक ही कवि के अनेक ग्रन्थों में प्रयुक्त शैली की तुलना कर उसके कवित्व शक्ति के विकास का मानचित्र भी बनाने की चेष्टा

की गई है। कहा गया है कि 'ऋतुसहार' के बिम्ब विधान, अभिव्यंजना शैली मे जो कालिदासीय स्वरों की कमी सी खटकती है वह इस कारण है कि वह कवि के काव्य जीवन की शैशवकालीन रचना है। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंश, कुमारसम्भव इत्यादि उस समय की रचना है जबकि कवि कालिदास की प्रतिभा चरमोत्कर्ष पर थी। जयशंकर प्रसाद की रचनाओं के क्रमिक विकास के इतिहास का पता न भी हो तो हम उनकी रचनाओं से तुलना कर कह सकते हैं कि कामायनी उनके प्रौढ-काल की कृति है। हालांकि ऐसा कोई सामान्य तथा निरपवाद नियम नही बनाया जा सकता। प्रतिभा बड़ी erratic होती है। कैसे कब विकसित हो जा सकती है यह रहस्यमय है। वड्स्वर्थ का उदाहरण सब को मालूम है कि उम्र की बढ़ती के साथ उसकी कविता का स्तर गिरता गया है। हम उनकी प्रौढ़ कविताओं को देखकर, बिना अन्य प्रमाणों पर विचार किये ही उन्हे उनके जीवन की प्रौढ़ काल की रचना कहेगे तो यह भूल होगी। इसी बात को देखकर अन्वेषकों का एक दल ऐसा भी सामने आया है जिसने ससार के अनेक साहित्यिकों, कवियों के तथ्य तथा आंकड़ों के उद्धरण देकर बतलाया है कि अधिकांश कवियो की प्रतिभा का चरमोत्कर्ष ३०, ३५ वर्ष की अवस्था तक ही हो गया था और इसी अवधि में वे अपना best दे चुके थे। शैली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, शंकराचार्य, भारतेन्दु इत्यादि के जीवन से इस बात का समर्थन मिल जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्येता कुन्तक तथा उनकी वक्रोक्ति से हम अच्छी तरह परिचित हैं। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिक्रियाके रूप मे वक्रोक्ति की स्थापना कुन्तक ने की थी। ध्वनिकार ने ध्वनि को सार्वभौम बना दिया था, अलंकार, रस, वस्तु में सर्वत्र उसी की सत्ता की घोषणा की थी। उसके उत्तर मे कुन्तक ने अलंकार की समष्टि-रूपिणी वक्रोक्ति की सार्वभौम प्रभुता स्थापित करने की चेष्टा की। वक्रोक्ति के भेद निरूपण करते समय काव्य के लघुतम अवयव वर्णन से लेकर उसके महत्तम रूप महाकाव्य तक उसकी सत्ता का विस्तार कर दिया। उसी से मिलता-जुलता दृश्य तुलनात्मक अध्ययन भी उपस्थित कर रहे हैं या कर सकते हैं। अभी तुलनात्मक अध्ययनों का अध्ययन होना बाकी है। यह स्वयं एक शोध का विषय हो सकता है कि तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति कब कैसे, किन-किन परिस्थितियों मे विकसित हुई, किसी अध्ययन की प्रतिक्रिया के रूप में हुई या यों ही स्वतन्त्र रूप मे चल पड़ी। पर यह तो सही ही है कि इसके अन्तःस्वरूप में बहुत ही लचीलापन है और अनुकूल परिस्थितियो मे सारे वातावरण पर वह हावी हो जा सकता है।

हम लिखावट की तुलना कर सकते हैं, एक या अनेक कवियों द्वारा एक शब्द के भिन्न अर्थों मे प्रयोग पर अध्ययन कर सकते हैं। एक ही कथा अपने मूल स्थान से चलकर यात्रा मे कौन कौन से रूप धारण कर सकती है। वाल्मीकि के नैष्ठिक ब्रह्मचारी हनुमान थाईलैण्ड मे आकर विलासी सम्राट् बन सकते हैं, चार-चार विवाह कर सकते हैं और जहां गये वहां की सुन्दरियो पर तो उनका मानों नैसर्गिक अधिकार है। मेरे एक मित्र हैं मगल सक्सेना। उनका कहना है कि हिन्दी की प्रकाशित पुस्तको के समर्पणो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत से मनोरजक तथा नेत्रोन्मीलक तथ्य हाथ लग सकते हैं।

मैंने अभी एक बात पढी है शेक्सपियर की जीवनी के सम्बन्ध मे। आप जानते हैं कि किसी लेखक की जीवनी के सम्बन्ध मे सबसे अधिक प्रामाणिक ज्ञान official records के द्वारा हो सकता है। उसकी जन्मतिथि, विवाह-तिथि इत्यादि के बारे मे सरकारी अधिकृत आलेख रहते है। चासर और शेक्सपियर दोनो का सम्बन्ध तत्कालीन शासन से था। अतः, इनके जीवन-सम्बन्धी पर्याप्त सूचनायें प्रामाणिक रूप मे प्राप्त है। परन्तु अग्रेजी साहित्य के विद्वान् इस बात को देखकर चक्कर मे पड़ जाते हैं कि शेक्सपियर की पत्नी का नाम एक जगह एक आलेख मे Anne Hathway of Stratford लिखा है पर दूसरे आलेख में Anne Whateley of Temple Grafton लिखा है। अग्रेजी साहित्य का मेरा ज्ञान सीमित है। अतः कह नही सकता कि शोधकर्त्ताओ ने इस पर क्या अन्तिम निर्णय लिया और किस नाम को सही माना। पर मेरे जानते लिखावट की विचित्रताओ के आधार पर यह रहस्य सुलझाया जा सकता है कि लिपिको की हस्तलिपि की विचित्रताओं के कारण यह उलझन पैदा हो गई होगी। मैं 'क' एक ढग से लिखता हूँ, आप दूसरे ढग से, वे तीसरे ढंग से। पर सब लिखते 'क' ही हैं। यदि इन विभिन्नताओं के कारण कोई उलझन पैदा होती है तो तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इन्हे सुलझा सकते हैं। अरे, Anne Hathwey, Anne Whateley की गड़बड़ी तो लिखावट के मत्थे सहज ही थोपी जा सकती है। Stratford, तथा Grafton मे लिपि की करामात साफ नजर आ रही है।' of तो दोनो मे समान है ही, रह जाती है समस्या Temple की कि यह कहा से आ गया। वह भी अन्य प्रमाणों के आधार पर तय किया जा सकता है कि Temple का अर्थ यहां पर मन्दिर है या किसी विशिष्ट नाम की सूचना देता है। हिन्दी या संस्कृत से पाठालोचन करने वाले तो इस व्यापार मे पटु हैं ही। अंग्रेजी मे भी हैंडराइटिंग

के आधार पर शेक्सपियर की रचनाओं के पाठ-निर्णय करने मे लिपि की विचित्रताओं से सहायता ली गई हैं। एकआध उदाहरण याद तो आ रहे हैं पर वह शायद लोगो को ऊबा दे, बोर कर दे। अतः, उस पर नियन्त्रण कर रहा हूँ।

नियन्त्रण तो कर रहा हूं। पर दूसरी ओर कल्पना जग जाती है। भारतीय साहित्य विशेषतः हिन्दी और संस्कृत साहित्य के कवियों के बारे में यह बहुत बडी शिकायत है कि इनके बारे मे कोई निश्चयात्मक ज्ञान नही। कालिदास कब हुए, कैसे हुए, एक ही कालिदास हैं या अनेक, उनकी रचनायें जिस रूप मे प्राप्त हैं वे ही ठीक है या उनमें दूसरों की लेखनी का प्रसाद है। जब यही निश्चय नही कि जिस कवि पर हम विचार कर रहे हैं उसके नाम पर जो साहित्य प्राप्त है वह सही है या नही तब तो मूल पर ही कुठाराघात है। हम उस कवि पर विचार ही कैसे कर सकते है। किसी ने शोध का विषय लिया कबीर की भाषा और साहित्य। बड़े परिश्रम से ४००, ५०० पृष्ठो की थीसिस तैयार की। अब परीक्षक कहता है कि जब कबीर की रचना ही सदिग्ध है, इसके सम्बन्ध मे कोई निश्चयात्मक बात मालूम नही तो उसके आधार पर बढ़ाया गया सारा प्रपंच व्यर्थ। हां, यदि थीसीस का नाम ही कबीर ग्रन्थावली की भाषा हो तब ठीक है। यह आरोप ठीक है। पर जिस ढंग से यह किया जाता है वह गलत है। सही बात भी गलत ढग से उपस्थित की जाय तो वह गलत हो जाती है। यह आरोप इस लहजे मे किया जाता है मानो यह गड़बड़ी हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य में ही हो, अंग्रेजी साहित्य मे नहीं। पर अंग्रेजी साहित्य मे भी इस तरह की गड़बड़ी कम नहीं है। अभी तक वहां शैक्सपियर, चासर, शैली, कीट्स के बारे में भी पूर्ण निश्चयात्मकता नही आ सकी है। चासर एक थे या दो, इस पर आज भी विवाद होता रहता है। जरा-सा विषयान्तर हो गया। पर इतने भर के लिये कि मैं आप से यह कह सकूँ कि दो भाषाओं के शोध-क्षेत्र में कवियों को लेकर जो जीवन-विषयक या साहित्य-विषय के उलझन है उनके हल करने की पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन हो सके। यह देखा जा सके कि दो देशो के विद्वानों ने एक ही प्रकार के विषय के शोध के सम्बन्ध मे एक प्रकार की सामग्री के आधार पर किस तरह के विभिन्न निष्कर्ष निकाले हैं और क्यों?

तुलनात्यक अध्ययन शोध की आधारभूत सामग्री को लेकर हो सकता है और दूसरे द्वारा देखा जा सकता है कि कौन सी सामग्री किस तरह के

शोध में अधिक महत्व की हो सकती है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक शोधकर्त्ता जानता है कि दो तरह की सामग्री शोध के लिये आधार हो सकती है। एक को Documents (प्रलेख) और दूसरे को Remains कह सकते हैं। किसी व्यक्ति ने कोई घटना देखी उस घटना से उसके मस्तिष्क पर कुछ संस्कार उत्पन्न हुए। उसने इसे इस उद्देश्य से लिपिबद्ध कर लिया ताकि पढने वाले को उस घटना की जानकारी प्राप्त हो। मसलन किसी संस्था के निर्देशक की वार्षिक रिपोर्ट इत्यादि Documents है। परन्तु relics तो स्थूल पदार्थ हैं जो निर्मित तो किये जाते है, पर यह कोई आवश्यक नही कि ज्ञानदान के उद्देश्य से उनका निर्माण हुआ हो। Documentary evidence से आप किसी घटना को साक्षात् रूप से नही देखते। परन्तु उस रूप मे देखते हैं जिस रूप मे लेखक ने देखा है। मतलब घटना मे थोड़ा परिवर्तन (refractive index) आ जाता है। relics मे घटनाओं को उसी रूप मे देखते है जिस रूप मे वह घटी है। कभी कभी ये relics अतीत की घटना को अधिक सही रूप मे उपस्थित करते हैं। एक उदाहरण लीजिये। एक स्कूल का हेडमास्टर अपनी संस्था की वार्षिक रिपोर्ट मे लिखता है कि अनुशासन के लिये मानवीय तथा सहानुभूति-प्रवण, दया-प्रवण साधनों से काम लेना चाहिये। यह रिपोर्ट Documentary source हुआ। परन्तु, दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि उसके कार्यालय में शारीरिक दण्ड देने के लिये बहुत से साधन भी एकत्र किये रखे है जैसे बेत की पतली-पतली छड़ियाँ, iron-bound rules इत्यादि। ये relics हैं, इन पर कोई refractive index नही है। ये अधिक सच्ची स्थिति का परिचय देते हैं। अतः, तुलनात्मक दृष्टि से इन भौतिक साधनो की खोज का अधिक महत्व है। यदि इस तर्क को और आगे बढायें तो पता चलेगा कि राजनीतिक इतिहास के लिखने मे सामाजिक या आर्थिक इतिहास मे अथवा इतिहास के विश्लेषण से उसके विवरण उपस्थित करने से Physical remain (भौतिक अवशेष) अधिक महत्वपूर्ण है।

कहने का अर्थ यह है कि तुलनात्मक अध्ययन के अनेक रूप हैं। इसकी सीमा नही बाधी जा सकती है। कालिदास के शब्दो मे—"विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा।"

एक शब्द के प्रयोग पर, एक अलंकार के प्रयोग पर, रीति-गुण के आधार पर थीसिस खड़ी की जा सकती है। कालिदास तथा भास की उपमा, सूर तथा तुलसी के रूपक, सूर-तुलसी की प्रबन्धवक्रता इत्यादि के भी

तुलनात्मक अध्ययन हो सकते हैं। किसी एक ही विषय पर दो भाषा के कवियों ने अथवा एक ही भाषा के दो कवियों ने किस तरह काव्य रचना की है और दोनो मे क्या अन्तर है। अन्तर यदि है तो for the better है या for the worse है इसका अध्ययन मनोरजक हो सकता है। हिन्दी में पन्त या निराला का इस ढंग से अध्ययन करने का प्रयत्न हुआ है। 'बादल' और शैली के Cloud, पंत की अप्सरा और रवीन्द्र की उर्वशी की तुलना की गई है और बडे मनोरंजक तथ्य निकाले गये हैं। पशुओं पर, पुष्पों पर, प्राकृतिक दृश्यों पर अनेक कवियों ने कवितायें की हैं और उन्हें अपने हृदय के भावों से समन्वित किया है। इन सवों का तुलनात्मक अध्ययन कवियों के व्यक्तित्व, उनकी मानसिक प्रक्रिया, सामाजिक तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर भी बहुत ही सारगर्भित ज्ञानोन्मेपक प्रकाश डाल सकता है। Herrick का to Daffodils, Waller का Go Lovely Rose, Burn का To a Mountain Daisy, Words wotth की Daisy पर लिखी अनेक कवितायें, Freneau के The Wild Honey Suckle, Tennyson का Flower in the Grannied Wall, Bryant का The Yellow Violet के उदाहरण तथा तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किये जा सकते है।

प्राकृतिक दृश्यो से सम्बन्ध रखनेवाली समानधर्मी कविताओं की सूची दी जा सकती है। Shelley, Ode to the West Wind, Emily Bronte, the Night Wind, Masefield, The West Wind, Bryant, The Evening Wind, Robinson Jeffers, Gale ih April, Shelley, the Cloud, Ammy Lowell, Night Cloud कहां तक गिनाया जाय Blake का To the Evening Star Keats, Bright Star, Would I were steadfast as thou art. मेरी कल्पना है कि पंत की 'सांध्यतारा' 'नारी' तथा Blake की To The Evening Star इन दोनो के तुलनात्मक अध्ययन की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। इस तरह अंग्रेजी साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन के लिए विषय सहज ही मिले जा सकते हैं क्योकि वहाँ पर ऐसी सूचियाँ एकत्र संगृहीत मिल जाती हैं। मैंने वही से सूची लेली है अपनी सुविधा के लिये। हिन्दी मे थोड़े से परिश्रम से ही सूची तैयार की जा सकती है।

पर ऐसे तुलनात्मक अध्ययन में कुछ वातो पर ध्यान भी देना चाहिए नहीं तो कुछ भ्रामक परिणाम निकलने की सम्भावना हो सकती है। सम्भव

है कि पंत को अपने वादल की रचना करने की प्रेरणा शेली के cloud से ही मिली हो और दोनों में कुछ साम्य भी मिले। माना कि शैली का cloud ही पंत के वादल का आधार है.। पर इतने से ही पंत के वादल का अथवा पत की काव्य-प्रतिभा का महत्व किसी तरह कम नही हो जाता। किसी काव्य के निर्माण में प्रेरणास्रोत का तथा कवि की प्रतिभा दोनो का सतुलित ध्यान रखते हुए, कि किसका कितना प्रतिशत अनुदान है, ही उस काव्य का विवेक-पूर्ण मूल्य स्थिर करना चाहिए। किसी कवि ने थोडा सा सकेत कही से प्राप्त किया है इतने भर से ही उसकी मौलिकता पर सदेह करना अनुचित है। यो तो विवेक की तुला सधी रहे यह तो शोध-कार्य की पहली शर्त है पर तुलनात्मक शोध मे तो यह मांग दुहरी हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए। हम चासर के Troilus and Criseyede अथवा Shakespeare के Anatony and Cleopatra का अध्ययन कर रहे हैं। यदि हम यह नही जानते कि चासर ने कहानी का सकेत कहां से पाया तो उसे हम अत्यधिक श्रेय दें देते हैं। मतलब उसे अपनी काव्य-प्रतिभा का श्रेय तो देते है, कहानी की उत्पाद्यता का भी श्रेय दे देते हैं जो निश्चय ही दूसरो का कृतित्व है और जिसके श्रेय की पात्रता का चासर एकछत्राधिकारी नही है। परन्तु यह भी सही है कि यदि हम यही पर रुक जांय तो चासर के साथ पूरा न्याय नही करते। क्योंकि यह तो चासर की प्रतिभा है कि उसने एक सूखी सी पड़ी कहानी के गर्भ मे अन्तर्निहित सम्भावनाओ को पहचाना, उसे अपनी प्रतिभा से अभिसिंचित कर पुष्पित, पल्लवित किया और उसे एक अद्वितीय उत्कृष्ट कलात्मक रूप मे प्रतिष्ठित किया। यदि आप इस पहलू को भूल जाते हैं तो शोध के मूल पर ही कुठारा-घात करते है। क्या हानि है यदि शेक्सपियर ने Antony and Cleopatra के प्रणयन मे Sir Thomas North द्वारा अनुवादित Plutarch lives से संकेत प्राप्त किया, कही कही उसी शब्दावली को भी ज्यों का त्यो उठाकर रख लिया। इतने से ही उसका महत्व कम नही होता। उसने उस सामग्री को लेकर एक सुन्दर कलात्मक सृष्टि कर दी। पत्थर को छूकर सोना बना दिया यह कोई कम महत्व की वात है ?

तुलनात्मक अध्ययन और शोध के सम्बन्ध में विचार करते समय एक और भी बड़ी मनोरजक वात मेरे सामने आई। आज पाठालोचन तथा पाठ-शोधन का विज्ञान बहुत विकसित हो गया । उसकी अपनी टेकनीक है और बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् आज इसमे सारी शक्ति लगा रहे है। यह वात सही

भी है। जब तक हमें यही निश्चय नही कि जिस हैमलेट का या रघुवंश का जो हम अध्ययन कर रहे हैं वे शेक्सपियर या कालिदास के वचन हैं भी या नही, यदि हैं भी तो उनमे कितनी ही अशुद्धियाँ या परिवर्तन हैं जो कवि की नही पर दूसरो की करामात है, जिसका सम्बन्ध कवि से कुछ भी नही है तब तक हमारा सारा समालोचन व्यापार सर्प के स्थान पर रज्जु को लाठी से पीटना है। यह उलझन प्राचीन कवियो के साथ अधिक है और अनेक प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन पाठ-निर्धारण मे सहायक किस तरह हो सकते हैं इसका हल्का सा विवरण ऊपर आया ही है। पर आधुनिक तथा जीवित कवियों के सम्बन्ध मे यह उलझन नहीं सो बात नही। मैंने एक जगह पढ़ा था कि W. B. Yeats के कविता-संग्रह के एक अमेरिकन एडीशन में कम से कम आधे दर्जन misprints हैं जिनके कारण तत्तत् प्रसंगों का अर्थ ही बदल जाता है। तिस पर मजा यह है कि अनेक आलोचकों ने उन्ही को सही मानकर उनके महत्व के स्तुति-पाठ मे अपनी सारी शक्ति लगा दी है। परन्तु सौभाग्य से यीट्स के काव्य-संग्रह के अनेक एडीशन प्राप्त हैं जिनके तुलनात्मक अध्ययन से स्थिति में सुधार सम्भव है। परन्तु यह भी एक कठिनाई है कि किस एडी-शन वाले पाठ को सही माना जाय। यह भी सम्भव है कि स्वयं कवि ने दूसरे एडीशन मे स्वयं परिवर्तन कर दिया हो।

निराला का प्रसिद्ध लेख है 'पल्लव और पंत'। इसमें उन्होने पंत की कविताओं में से एक दो ऐसे उदाहरण दिये हैं। पंत की कवितायें पहले सरस्वती में प्रकाशित हुई थी बाद में उन्हें पल्लव में संग्रहीत कर प्रकाशित किया गया। आंसू नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ सरस्वती में यों छपी थी :

नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुषमा का संसार
विरल इन्द्र-धनुषी-बादल सा
बदल रहा है रूप अपार !

पल्लव में—

नयनों के लघु-नील व्योम में
अलि किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्र-धनुषी-बादल सा
बदल रहा निज रूप अपार ?

पंत की आँसू नामक कविता मे पहले था—

वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन, शब्द-शब्द है सुधि की दंशन !

पर बाद मे पल्लव मे हो गया—

वर्ण-वर्ण है उर का कम्पन शब्द-शब्द है, सुधि का दंशन।

दंशन और कम्पन पहले स्त्रीलिंग थे। बाद मे पुलिंग हो गये। निराला जी कहते हैं "मुमकिन है, परिवर्तन के समय पतजी मे पुरुषतत्व का जोश बढ गया हो। वह अपनी स्त्री-सुकुमारता को भूल गए हों। मुझे तो पहला रूप ही अच्छा लगा।" खैर जो हो, ये सारे व्यापार, तुलनात्मक अध्ययन के बिना सम्भव कैसे हो सकते थे ?

अतः हमने देखा है कि शोध-व्यापार मे तुलनात्मक अध्ययन का क्या महत्व है ? इसके बिना एक पैर भी आगे बढना सम्भव नही है। शोध-सम्बन्धी निबन्ध में कल्पना से अधिक काम नही लेना चाहिए। पर अन्त मे मुझे कल्पना से थोड़ा काम लेने दीजिए। जब मैं सृजनात्मक साहित्य को केन्द्र मानकर चलने वाले इस सारे सर्वारम्भ-प्रपंच को देखता हू (जिसमे शोधकार्य भी आ जाता है) तो सारे व्यापार को दो भागो मे विभक्त कर लेने की इच्छा होती है–(i) Pre-criticism (पूर्वालोचना) (ii) criticism पाठानुसधान करने वाले, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की खोज करने वाले विद्वान Pre-critic है। अर्थात् ये आलोचना नही करते। आलोचना करने की सामग्री को ठीक करके उपस्थित कर देते हैं। जब तक शुद्ध पाठ का ही पता न हो, विवेच्य-वस्तु की तिथि तथा उसकी विधायिनी-परिस्थितियों का ही पता न हो तब तक आलोचना हवाई आलोचना होगी। जब ये बातें ठीक हो जायें तो अब critic को criticism का अवसर आता है, इसके पहले नही। शोध-व्यापार का बहुत अश Pre-criticism का व्यापार है। इसमे तुलनात्मक अध्ययन बहुत सहायक होता है। पर तुलनात्मक अध्ययन का एक पैर आलोचना के क्षेत्र मे भी रहता है।

मैंने कहा कि तुलनात्मक अध्ययन का एक पैर शोध के क्षेत्र मे रहता है, दूसरा समालोचना के। पर यह शुद्ध शोध का रूप धारण कर लेता है जबकि वह शोध की सच्ची प्रक्रिया को दृढ़ता तथा ईमानदारी के साथ पालन करे। शोध के सम्बन्ध मे लिखते हुए एक विद्वान् ने जो लिखा है उसे यहां उद्धृत करने के लोभ पर नियंत्रण करना कठिन हो रहा है।

"If he questions his explanations, the stage is set for his research. If he goes further and challenges the methods by which he arrived at his conclusion, if he critically and systematically repeats his observations, if he devises special tools for taking, recording, and analysing his observations; if he tests the reliabillity and validity of these tools and evaluates his data in other ways, if he Scrutinises the thought processes by which he passes from one step of his logic to another; if he gradually refines his concept of what it is he is trying to explain and considers anew the necessary and sufficent conditions for proof; if at every step he proceed with utmost caution realising that his purpose is not to arrive at answer which is personally pleasing but rather one which will stand up under the critical attacks of those who doubt his answer, if he can meet these criteria and stead-fastly holds to his purpose, then he is doing research.

अर्थात् यदि वह (शोधकर्त्ता) अपनी व्याख्याओं के प्रति सप्रश्न रहे तो समझिये कि शोध के लिए क्षेत्र तैयार है। यदि वह आगे बढ़ कर अपनी निष्कर्ष-विधायक पद्धति को भी चुनौती देता है; यदि वह अपने निरीक्षणों की पुनरावृत्ति व्यवस्थित रूप मे विवेक-शील होकर करता हैं, यदि वह अपने निरीक्षणों को लिखने, रेकर्ड करने तथा उनके विश्लेपण करने में विशिष्ट साधनों से सहायता लेता है; यदि वह इन साधनो की विश्वसनीयता तथा औचित्य का परीक्षण कर लेता है, और अपनी दित्ताओं के प्रामाण्य को अनेक ढंग से जांचता है; यदि वह अपनी विचार-प्रक्रिया द्वारा तर्क पद्धति की ठीक से छानवीन करता हैं, यदि वह अपने व्याख्यातव्य-विषयक-प्रत्यय को सदा परिमार्जित करता रहता है और प्रामाण्य की आवश्यक और पर्याप्त शर्तों पर पुनः पुनः विचार करने के लिए अपने मस्तिष्क को खुला रखता है, इस बात का ध्यान रखते हुए कि उसका ध्येय अपने मनोनुकूल उत्तर प्राप्त करना नहीं है परन्तु ऐसा उत्तर प्राप्त करना है जो उसके प्रति शकालुओं के आक्रमणों का सामना कर सके, यदि वह प्रत्येक पद अधिक से अधिक सावधानी से उठाता है, यदि वह इस कसौटी पर खरा उतरे और दृढतापूर्वक अपने उद्देश्य से चिपका रहे तो वह शोध कर रहा है।'

३

शेक्सपियर-साहित्य का रचयिता : शेक्सपियर या मार्लो ?

प्राचीन हिन्दी अथवा संस्कृत साहित्य के अनुसंधान से बहुत लोगों की शिकायत है कि यहां पर तथ्यों को किसी दृढ़ आधार पर स्थापित कर पाने के लिये वैज्ञानिक प्रमाणो का बहुधा अभाव है। कालिदास को ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ७वी शताब्दी तक कही भी रखा जा सकता है। भारत के कोने-कोने के लोग अपने यहा उनकी जन्मभूमि बताने के लिये प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं। सच पूछा जाय तो प्राचीन संस्कृत साहित्य-क्षेत्र के अनुसंधान का इतिहास कवियों की तिथि, जन्म-स्थान तथा उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का इतिहास है। हिन्दी मे चन्द, कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी के साहित्य-संबंधी अनुसंधान से थोड़ा सा भी परिचय रखने वाला व्यक्ति इस क्षेत्र में इस तरह की अराजकता से आतंकित रहता है। विदेशी अनुसंधानकर्त्ताओं ने तथ्यो को इस ढग से उपस्थित किया है कि पाठक के हृदय मे एक तरह की अनास्था, असंतोष तथा क्षोभ का भाव भर जाता है। वह प्राचीन साहित्य के अध्ययन को व्यर्थ समझने लगता है, उसमें हीनता की ग्रंथि बनने लगती है और उसकी धारणा बधने लगती है कि विदेशी साहित्य का इतिहास कितना सुव्यवस्थित, स्पष्ट तथा साफ सुथरा है, सारा वातावरण प्रामाणिक है। यहां हमारा इतिहास है कि अंधकार का पुंज, परस्पर विरोधी बातो का जमघट तथा कपोल कल्पनाओं एव दतकथाओं का समूह मात्र !

पर क्या यह बात सही है ? क्या विदेशी साहित्य की अनुसंधान-वीथि इतनी साफ-सुथरी लिपी-पुती है जिसकी कल्पना हम करते हैं ? नही, वहा भी इसी तरह के सत्यो तथा अर्धसत्यों ने वातावरण को उज्झटिका-प्रच्छन्न कर रखा है और लोगों को अंधकार मे हाथ-पैर मारने पर विवश किया है। चासर, स्पेन्सर, ग्रीन, मार्लो, शेक्सपियर जितने भी प्रसिद्ध साहित्यिक हैं

उनकी जीवनी की प्रामाणिकता संदिग्ध बातों से भरी पड़ी है। किसी के अस्तित्व के बारे मे ही सन्देह है, किसी की रचनाओं की प्रामाणिकता नहीं मिलती, किसी दूसरे कवि की रचना दूसरे के नाम पर प्रचलित है। नीचे की पंक्तियो मे शेक्सपियर के संबंध में कुछ बातें कही जायेंगी जो पाठको के लिये मनोरंजक होंगी। मेरी इच्छा है कि अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास में कवियों तथा कलाकारो के सम्बन्ध मे व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि को मोहनेवाला तथा चकरा देने वाला जो साहित्य एकत्र हो गया है उसका थोड़ा परिचय हिन्दी के पाठको के लाभार्थ उपस्थित किया जाय।

इससे कितनी ही तरह के लाभ होंगे। (१) पाठकों का मनोरंजन होगा। अनुसंधानकर्त्ताओ के बुद्धि-विलास से उनके चित्त का प्रसादन होगा (२) उनके हृदय को अपने प्राचीन साहित्य के प्रति हीनता की भावना से मुक्ति मिलेगी और उसके प्रति गौरव के भाव जागेंगे। इन दुमदारों से तो हम लड़ूरे ही भले, इस तरह की मनोवृत्ति उत्पन्न होगी। सुकृतो की हारती सेना मे विजय की आशा जगेगी (३) सबसे बड़ी बात यह कि परस्पर तुल्य-बल-शालिनी विरोधिनी बातो को तौलने की एवं किसी निर्णय पर पहुँचने की शक्ति का विकास होगा। शोधकर्त्ता की सच्ची स्पिरिट भी यही है।

सर्वप्रथम हम शेक्सपियर को ही लेंगे, कारण कि वे विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार समझे जाते हैं और अंग्रेजी साहित्य के तो वे प्राण ही हैं। इनको लेकर एक विशाल आलोचनात्मक साहित्य की ही सृष्टि हो गई है और होती जा रही है। आशा यह की जाती थी कि जैसे-जैसे नई-नई सामग्री उपलब्ध होती जायेगी, नये नये रेकार्ड और आधारभूत प्रमाणो की प्राप्ति होती जायेगी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता जायेगा त्यों-त्यो मतभेद समाप्त होते जायेंगे और विवादास्पद गुत्थियां सुलझती जायेगी। परन्तु स्थिति इसके विपरीत है। बीसवी शताब्दी मे विवाद और भी उग्र रूप धारण करते जा रहे हैं।

शेक्सपियर-संबंधी विवाद के कितने ही रूप हैं। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि जब हम यह सुनते हैं कि शेक्सपियर के नाम पर जो भी साहित्य-नाटक या कवितायें आज प्रचलित हैं वह सब उसका लिखा हुआ नही, किसी अन्य प्रतिभा का प्रसाद है। इसके लिये कम से कम आधे दर्जन दावेदारों का नाम उपस्थित किया गया है। प्रत्येक दावेदार के समर्थक की ओर से तरह तरह के प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिनमे कुछ तो अत्यन्त

हास्यास्पद हैं और कुछ ऐसे सबल है कि उन्हें यों ही टाल देना कठिन है। इन दावेदारो मे प्रसिद्ध कवि और नाटककार मार्लो, निबंधकार तथा प्रतिभावान बेकन के दावे के पक्ष मे बडे ही युक्तिपूर्ण तथा तर्कसगत प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। महिला दावेदारो मे केवल काउन्टेस आफ पेम्ब्रोक हैं। अर्ल आफ आक्सफोर्ड Edward de vere भी शेक्सपियर-पदेच्छुको मे से है। सर्वप्रथम हम शेक्सपियर-मार्लो विवाद की ओर ही ध्यान देगे।

प्रतिपाद्य विषय यह है कि शेक्सपियर के नाम पर जो कुछ नाटक या कवितायें प्राप्त है वे शेक्सपियर की नही हैं, मार्लो की हैं इस मत के समर्थन मे कितने ही तर्क दिये जाते हैं उन्हे हम शीघ्र ही देखेंगे पर उनके मुख्याधार ये हैं—मार्लो स्वयं भी एक उच्चकोटि के कवि और नाटककार थे। उनकी अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं। शेक्सपियर और मार्लो की शैली तथा भावाभिव्यक्ति मे बहुत ही साम्य है और इतनी मात्रा मे है कि इसे दैवीसंयोग और श्रेष्ठ मस्तिष्कों की विचारसरणि की एकता (all greatmen think alike) कह कर टालने से काम नही चल सकता। दो ही बातें हो सकती है, (अ) या तो शेक्सपियर ने सतर्कतापूर्वक जानबूझ कर मार्लो की शैली, नाट्यकला तथा वाक्यांशों के अनुकरण करने का प्रयत्न किया हो। शेक्सपियर का अनुकरण मार्लो ने किया हो ऐसी कल्पना नही की जा सकती, कारण कि इतिहास के अनुसार १५९३ में मार्लो की हत्या हो गई थी। शेक्सपियर का साहित्य उसके बाद उपलब्ध होता है। कहा जाता है कि शेक्सपियर की प्रथम कृति है Venus and Adonis. जिसका प्रथम प्रकाशन १५९३ मे हुआ, मार्लो की मृत्यु के बाद। शेक्सपियर का अनुकरण करने के लिये वह कब्र से उठकर आ नहीं सकता था। अतः, इस तरह के अनुमान का स्पष्ट आधार प्राप्त होता है कि यदि अनुकरण हुआ है तो शेक्सपियर की ओर से ही सभव है।

(ब). दूसरा विकल्प यह हो सकता है विवरणीय रचनायें शेक्सपियर की न होकर मार्लो की हों। इस परिस्थिति मे अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं। मार्लो की हत्या तो १५९३ मे ही हो गई थी। तब वह अपनी मृत्यु के पश्चात् २५, ३० वर्षों तक किस प्रकार साहित्य सृजन करता रहा ? एक अन्य उपविकल्प यह हो सकता है कि अपने जीवनकाल मे ही मार्लो ने सब कृतियां लिख दी हों। वे ही किसी प्रकार शेक्सपियर के हाथ लग गई हों जिन्हें वह समय-समय पर अपने नाम से प्रकाशित करता रहा। पर यह भी विश्वसनीय नही है। मृत्यु के समय मार्लो की अवस्था मात्र २९ वर्ष की थी।

उनकी प्रामाणिक रचनाओं की संख्या भी ८, १० है। इतनी छोटी अवस्था में ८, १० पुस्तको की रचना कर सकना भी कम आश्चर्यजनक नही। जिस पर शेक्सपियर के नाम पर प्राप्त विशाल साहित्य का भार भी उस पर लाद देना वडे ही दुस्साहस का काम है। इतनी थोड़ी अवधि मे इतने वड़े साहित्य-संभार की सृष्टि कर पा सकना किसी भी मानव, साधारण या असाधारण के लिये संभव नही है। "असंभव हेममृगस्य जन्म"। तव शेक्सपियर-मार्लो के विवाद का निपटारा कैसे हो ? मार्लो शेक्सपियर था या शेक्सपियर मार्लो था ? मतलव कि मार्लो ने शेक्सपियर को लिखा या शेक्सपियर ने मार्लो को लिखा ?

वड़ी विचित्र परिस्थिति है। शेक्सपियर और मार्लो की जीवनीगाथा के सूत्र इस तरह आपस मे उलझ गये हैं कि उनको अलग-अलग कर पा सकने मे कठिनता होती है। दोनों का जन्म एक ही साल में दो-तीन महीनों के आस पास हुआ था। दोनों ही कवि और नाटककार थे। दोनों के ही कैरियर मे इतनी समानता है कि दोनों को एक ही समझ लेने के लिये प्रमाण मिल जाते हैं। शेक्सपियर की तरह ही मार्लो का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। मार्लो के पिता साधारण मोची थे। शेक्सपियर का जन्म जिस तरह स्ट्रफोर्ड आन इवन नामक छोटे नगर मे हुआ था, उसी तरह मार्लो का जन्म भी कैन्टीनवरी नामक छोटे शहर मे हुआ था और उसका वपतिस्मा भी शेक्स-पियर से दो माह पूर्व हुआ था। दोनों वड़े ही प्रतिभाशाली, मानव चरित्र के ज्ञाता, तत्कालीन ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों मे विज्ञ तथा भाषा एवं भावा-भिव्यक्ति पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति थे। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी जानते है कि वुद्ध और महावीर की जीवनी मे इतना साम्य है कि ऐतिहासिकों का एक प्रवुद्ध वर्ग दोनों को एक ही व्यक्तित्व में सम्मिलित कर देता है।

जे० एम० रावर्टसन ने शेक्सपियर तथा मार्लो की शव्दावली, भाषा-प्रयोग, छन्दो विधान, तुकवन्दी तथा दृष्टिकोण वैशिष्ट्य का सांगोपांग अध्ययन वड़े ही मनोयोग तथा अध्यवसायपूर्वक किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि Richard III तो मार्लो का ही है। Richard II का प्रथम अंक भी मार्लो का ही हो सकता है। Henry V, Comedy of Errors, Julus Caesar, Romeo and Juliet—मतलव कम से कम १० नाटक तो मार्लो के ही हो सकते हैं। जो हो, इतना तो सही ही है कि यदि शेक्सपियर और मार्लो दो व्यक्ति थे तो रचनाओ के अन्त:साक्ष्य के आधार पर तो दोनों के व्यक्तित्व को पृथक् करना सहज नही है। जिस पर शेक्सपियर के कृतित्व में

सन्देह करने वाले अकेले J. M. Robertson ही नही है। Nathaniel Hawthorne, Lord Palmerston, Walt Whitman, Sir George Greenwood, Mark Twain, Prince Bismarck, Oliver Wendall Holmes, Sigmund Freud, John Bright, Henry James, Lord Broughton, Ralph Waldo Emerson, Lord Penzxance, John Greenley whittiev, Dr. W. H. Furness, Charles Dickens इत्यादि अनेक मनिषी विचारक विद्वान है जिन्होने समय-समय पर शेक्सपियर के कृतित्व के सम्बन्ध मे सदेहास्पद उद्‌गार प्रकट किये है।

परन्तु Calvin Hoffman ने अपनी पुस्तक The Murder of the Man Who Was Shakespear (New York Julian Messner, Inc. 1955) मे शेक्सपियर और मार्लो वाले विवाद के प्रश्न का बहुत विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है। उन्होने इसके अध्ययन मे १६ वर्ष व्यतीत किये। इंगलैण्ड, फ्रांस, डेनमार्क, जर्मनी, इटली अनेक देशो की धूल फाकते रहे, सीलन से भरे अनेक archives तथा धूल से भरी पुस्तकालयो की आलमारियो के कोने छानते रहे। ध्वंसावशिष्ट अनेक गिरिजाघरों, पुरानी इमारतों तथा प्राचीन विश्वविद्यालयो की यात्रायें की और इस निर्णय पर पहुंचे कि शेक्सपियर साहित्य का रचयिता मार्लो के सिवा कोई नही हो सकता। वे लिखते हैं—I patiently investigated as an unofficial detective in a murder mystery that rivals any Sir Arthur Conan Doyle ever wrote अर्थात् मैं बड़े ही धैर्य से एक गैरसरकारी गुप्तचर की तरह हत्या के रहस्य का पता लगाता रहा जो सर आर्थर कानन डायल की किसी कहानी से कम नही है।

मार्लो की हत्या

सर्वप्रथम मार्लो की हत्या वाली समस्या पर विचार किया जाय। इसके सम्बन्ध में सरकारी विवरण बहुत ही संक्षिप्त और सीधा सा है। इतना संक्षिप्त और साधारण कि इसकी संक्षिप्तता और साधारणता ही सदेहजनक है। मार्लो अपने समय का असाधारण प्रतिभासम्पन्न नाटककार था, तत्कालीन सरकार से भी उसका सम्बन्ध था। उसकी हत्या कोई साधारण बात नही थी। पर सरकारी क्षेत्र मे इस प्रश्न को लेकर जरा भी हलचल नही हुई। यह मौन रहस्यपूर्ण है।

इस घटना की जांच पड़ताल करने के लिये सरकार की ओर से अप-मृत्यु विचारक (Coroner) की नियुक्ति की गई थी। किसी हत्या सम्बन्धी घटना की जाच करनेवाले अधिकारी को Coroner कहा जाता है। उस कारोनर ने जो रिपोर्ट दी वह यों है—१५६३ के ३० मई को 10 A M. के समय चार व्यक्ति Deptford में Eleanor Bull नामक विधवा के घर पर मिले। इन चार व्यक्तियों का नाम था C. Morley (Christopher Merlowe) Ingam Ffrysar, Nicholas Skeres तथा Robert Poley, वहां उन लोगों ने साथ साथ दिन में भोजन किया। तत्पश्चात् ६ बजे सध्या तक वाटिका मे साथ साथ घूमते रहे। उसके वाद घर लौटे और रात में भोजन किया। वाद मे वे लोग वही सोये। मार्लो एक विस्तर पर था। सटे हुए एक विस्तर पर फिजर भी मार्लो की तरफ पीठ किये सोया था। Skeres और Poley भी सटे हुए विस्तर पर थे पर उनकी पीठ मार्लो की तरफ थी या नहीं, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। जब वे लोग इस तरह लेटे ही थे कि श्रीमती बुल के बिल के चुकाने को लेकर आपस मे झगड़ा वढ़ा। मार्लो ने क्रोधावेश मे आकर फिजर की पीठ पर पड़े हुए छुरे को निकाल लिया और उसके माथे पर आघात किया जिसके कारण वहां दो इन्च लम्बा तथा चौथाई इन्च गहरा घाव हो गया। चूंकि फिजर की एक तरफ Skeres था और दूसरी तरफ Poley था अतः वह भाग नही सका। अतः, उसने मार्लो से संघर्ष कर छुरे को छीन लिया और मार्लो की दाईं आंख के ऊपर माथे पर आघात किया जिससे दो इंच गहरा तथा एक इंच चौड़ा घाव हो गया। मार्लो की तुरन्त मृत्यु हो गई। फिजर, Skeres तथा पोली उसी स्थान पर रहे। १ली जून को उसी स्थान पर अन्वीक्षण किया गया और १६ व्यक्तियों के जूरी ने शरीर की परीक्षा कर यह अभिमत दिया कि फिजर ने आत्म-रक्षा के लिये हत्या की है। इसे प्रिवीकाउन्सल ने स्वीकार किया और फिजर को क्षमा प्रदान किया।

कल्पना कीजिये कि यह घटना स्वतः पूर्ण है अर्थात् इसके पीछे या आगे का इतिहास नहीं मालूम है, इस पर प्रकाश डालने के लिये अन्य कोई साधन ही नही है। और तब विचार कीजिये यह कहां तक सम्भाव्य है। गीता में एक श्लोक है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

इसी तरह कल्पना कर लीजिये कि यह घटना अव्यक्तादि है अर्थात् घटना के पूर्व का इतिहास ज्ञात नही है तथा यह अव्यक्त निधन है अर्थात् घटना के पश्चात् इसकी परिणति किस रूप मे हुई यह भी ज्ञात नही। इसका व्यक्त मध्य रूप अर्थात् अपमृत्यु विचारक ने जिस रूप मे घटना को उपस्थित किया है वही रूप हमारे सामने उपस्थित है। इतना मान लेने के बाद इस घटना पर सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने से कई तरह के प्रश्न उपस्थित होते है। १९२५ मे Dr. J. Leslie Hotson ने The Death of Christopher Marlowe नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमे उन्होने अथक परिश्रम के बाद अपमृत्यु विचारक द्वारा प्रिवीकाउन्सिल मे भेजे विवरण को खोज निकाला था और तब मार्लो की मृत्यु या हत्या पर पुस्तक लिखी, जिसके द्वारा मार्लो के जीवन पर नूतन प्रकाश पड़ा। उसने लोगो को नये ढग से विचार करने के लिये प्रेरित किया। Miss E. de Kalb ने इस पर बहुत कुछ लिखा। अन्य लोगो ने अपने मतो को उपस्थित किया। इन सारे मत-मतान्तरों को संक्षेप मे Mr. F. S. Boas ने अपनी पुस्तक Marlowe and his Circle मे बड़े सुन्दर ढंग से एकत्र कर दिया है। इसके अध्ययन से विचारणीय समस्या के प्रत्येक पहलू की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। और मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि इस घटना मे पूरी सचाई नही है, कही न कही अपमिश्रण है। जिस तरह विशुद्ध चादी का रुपया टन्न से बोलता है वैसी आवाज इसमे से नही निकलती है। It rings false. इससे जो आवाज निकलती है वह मंद है, मानो कुछ अपमिश्रण हो। इस सिक्के मे कुछ खोटापन है, यह पूर्णरूपेण खरा नही है। क्यो ?

जब मार्लो ने फ्रिजर पर आघात किया तो फ्रिजर भागा क्यों नही ? कहा जाता है कि वह Poley और Skeres के बीच मे था इसलिये भाग निकल नही सकता था। So that he could not in any wise get away. यह बात समझ मे नही आती। फ्रिजर मार्लो से सघर्ष कर सकता था, उससे छुरे को छीन सकता था। (इन सारे व्यापारों के लिये स्थान की आवश्यकता है) पर वह भाग नही सकता था ? तो क्या उन दो साथियों ने उसे भागने से रोका ? यदि भागने से रोका तो इसका उद्देश्य यही हो सकता है कि वे मार्लो के सहायक थे और चाहते थे फ्रिजर की हत्या हो जाय। पर हम देखते हैं कि फ्रिजर मार्लो के हाथ से छुरा छीन लेता है और मार्लो की हत्या कर देता है और ये दोनो व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, कुछ भी करते

नहीं। जो हो, चाहे वे मार्लो के पक्षधर हो या फ्रिजर के अथवा परिस्थितियों ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि अचानक ही अप्रत्याशित रूप में हत्या में उनकी परिणति हो गई—किसी भी हालत मे इन दो साथियो की तत्कालीन निष्क्रियता संदेहजनक है। ऐसी परिस्थिति मे कोई भी व्यक्ति निष्कारण निष्क्रिय नही रह सकता। उसे कुछ न कुछ करना ही होगा। इन लोगों की ओर से कुछ भी हस्तक्षेप नही हुआ। यह बात समझ मे नही आती। समाधान के लिये यह कहा जा सकता है कि शराब के नशे मे ये धुत्त हों। अतः, कुछ कर सकने की परिस्थिति मे न हों। परन्तु, हत्या जैसी भयंकर घटना नशे को काफूर कर देने के लिये काफी होनी चाहिये थी। पर आश्चर्य तो यह है कि अपमृत्युविचारक की रिपोर्ट इस पर सर्वथा मौन है। इस मौन को किसी तरह के स्वीकार का लक्षण समझा जाय ?

रिपोर्ट में कहा गया है कि मार्लो ने फ्रिजर के सर पर आघात किया जिसके कारण वहां दो घाव बन गये। आश्चर्य है कि ये घाव इतने हल्के कैसे रहे ? और इन्हें तो सर पर न होकर पीठ पर होना चाहिये था क्योंकि घटना के समय फ्रिजर की पीठ ही मार्लो की तरफ थी। तिस पर भी ये घाव इतने हल्के हैं कि कोई भी पूर्व नियोजित केस बनाने के लिये ऐसे घाव स्वयं भी बना ले सकता है। पीठ पर बनाना जरा कठिन होता पर सर पर हल्का घाव बना लेना कठिन नही।

यह भी पता लगाना आवश्यक है कि ये चारों व्यक्ति एक मदिरालय मे शहर से दूर किस उद्देश्य से एकत्र हुए। कौन सी-ऐसी रहस्यमयी या महत्त्वपूर्ण बात थी कि ये लोग आठ-दस घंटो तक गम्भीरतापूर्वक शान्त वातावरण मे विचार-विमर्श करते रहे। और अन्त मे एक छोटी-सी बात पर इतने उत्तेजित हुए कि हत्या करने पर उतारू हो गये।

और यह हत्या भी विचित्र थी। ३० मई को हत्या हुई, ३१ मई को अपमृत्यु विचारक ने जांच पड़ताल की रिपोर्ट दी, जूरी के १६ सदस्यो ने निर्णय दिया कि फ्रिजर ने आत्म-रक्षा के लिये आघात किया था, हत्या करना उसका उद्देश्य नही था। उसके बाद शीघ्र ही Deptford के St. Nicholas Church मे पहली जून को मार्लो को कब्र में दफना दिया गया। Christopher Marlow slain by ffrancis ffrezer; the I of June. पहली बात तो यह कि अपमृत्यु विचारक ने मार्लो के सर पर किये गये आघात का जो वर्णन किया है, आकार प्रकार बतलाया है, वह ऐसा नही कि उससे आघातित

व्यक्ति की तुरन्त मृत्यु हो जाय। कम से कम अनेक कुशल डाक्टरों की यही राय है। यह वर्त्तमान डाक्टरो की राय है। उस समय तो शायद डाक्टरी परीक्षा कराई ही नही गई ? क्यो नही कराई गई ? Skeres तथा Poley के सिवा अन्य किसी गवाह के वयान क्यो नही लिये गये ? कम से कम Dame Bull जिसके घर या दुकान पर ठहर कर इन लोगो ने शराव पी थी उसको साक्षी के रूप में बुलाना था और उसका वयान दर्ज करना था ? यह भी नही किया गया। फिर भी विना किसी औपचारिकता के मार्लो जैसे प्रसिद्ध तथा प्रतिभाशाली, साहित्यकार को अनाथ, लावारिस की तरह एक Unmarked Grave मे दफना देने की कौन-सी जल्दी पड़ी थी ? ये सब वडी विचित्र और भेद-भरी वात है। लोग तो यह भी कहते है कि दो व्यक्तियो के बीच दवे हुए तथा मार्लो की तरफ पीठ कर सोये हुए फ्रिजर के लिये ऐसा प्राणघातक तथा सशक्त वार करना सम्भव नही था और यह भी आश्चर्यजनक है कि कोई व्यक्ति किसी गम्भीर समस्या पर वक्ता की ओर पीठ करके वार्तालाप करे।

पर इन सब वातो को छोड़ भी दिया जाय तव भी आप इस वात की संतोषजनक व्याख्या किस तरह करेंगे कि रानी एलिजावेथ के द्वारा क्षमा-प्रदान के एक महीने वाद तथा जेल से मुक्त होने के एक दिन वाद ही मार्लो के मित्र तथा संरक्षक Thomas Walsingham ने फ्रिजर को पुनः सेवा में नियुक्त कर लिया। अपने एक घनिष्ठ मित्र की हत्या की स्मृति ताजी है, और कोई उसके हत्याकारी को अपने यहां सेवा मे नियुक्त कर ले, यह वात विश्वसनीय नही मालूम पड़ती। परन्तु वात यहा तक सीमित नही रही। शीघ्र ही Poley भी राजकीय सेवा मे नियुक्त कर लिया गया। इस पर भी आश्चर्य का ठिकाना नही रहता। जव हम देखते हैं कि फ्रिजर एक वहुत वडे आर्थिक गवन के मामले में गिरफ्तार होता है पर इसके वावजूद भी उसे राजकीय सेवा से मुक्त नही किया जाता, वह सेवा में वना ही रहता है। हो न हो कोई ऐसी वात थी जिसके कारण वह सरकार का विशेष कृपापात्र था।

तव प्रश्न यह होता है कि इस आश्चर्यजनक हत्या का वास्तविक रहस्य क्या है ? यदि हत्या नही हुई तो इस दन्तकथा को लोगों के सामने कायम रखने का रहस्य क्या हो सकता है ? इसके लिये आइये, हम इस घटना से सम्वन्धित सब व्यक्तियों के पूर्व इतिहास को देखें और पता लगायें कि वे क्या करते थे ? उनका चरित्र कैसा था ? वे किस तरह के लोगो से मिलते-जुलते थे ? इन सब वातो के सम्वन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेने से सम्भव है, घटना पर

कुछ प्रकाश पड़े और सत्य के जानने में सहायता मिले। इतिहास के ज्ञान हो जाने के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचेगे कि ये चारों व्यक्ति तत्कालीन सरकारी गुप्तचर विभाग के सदस्य थे और उनका काम देश-विदेश के गुप्त भेदों का पता लगाकर सरकार को अवगत कराते रहना था।

मार्लो के बारे में बहुत सी बातें प्रामाणिक आधार पर ज्ञात हैं। वे प्रसिद्ध नाटककार तो थे ही, साहित्य कला में उस समय उनसे प्रतिस्पर्द्धा कर सकने वाला कोई नहीं था। Privy Council के रजिस्टर में स्पष्ट शब्दों मे अंकित है कि १५८७ की २९ जून को उनकी नियुक्ति राजकीय गुप्तचर विभाग मे हुई। England के इतिहास मे यह बहुत ही महत्वपूर्ण वर्ष था। इसके एक ही वर्ष बाद १५८८ मे इंगलैंड पर स्पेनिश आरमेडा का आक्रमण हुआ था जिसके कारण देश का अस्तित्व ही खतरे मे पड़ गया था। १५८७ मे जब मार्लो केम्ब्रिज मे थे तो वहाँ के शिक्षाधिकारियों को उनके चरित्र पर सदेह उत्पन्न हुआ था। अतः वे उन्हें M. A. की उपाधि देने के लिये तैयार नही थे। झगडा यहाँ तक बढ़ा कि मामला प्रिवीकौंसिल तक गया और एक बैठक मे जिसमें आर्क बिशप ऑव केन्टरबरी और ऑस्लर, लार्ड ट्रेज़रर, लार्ड चेम्बर लेन और कन्ट्रोलर महोदय भी उपस्थित थे, विचारार्थ रखा गया। इस महत्वपूर्ण बैठक मे मार्लो के पक्ष में निर्णय लिया गया और यह कहा गया कि मार्लो के विरुद्ध देश से बाहर भाग जाने का जो लांछन लगाया गया था वह सर्वथा निराधार है।

Poley की कथा तो और भी विचित्र हैं। वह एलिजाबेथ के प्रसिद्ध मन्त्री वालसिंघम का खास गुप्तचर था। इंगलैंड के इतिहास में बेबिंगटन प्लाट, जिसके द्वारा एलिजाबेथ की हत्या कर मेरी स्टुअर्ट को राज्य सिंहासन पर स्थापित करने की योजना बनाई गई थी, उसका रहस्योद्घाटन करने मे Poley ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। लोगों ने उसे "The Very Genius of The Elezabathan Under-World" अर्थात् एलिजाबेथ के अन्तर्भौमिक जगत की मूल प्रतिभा कहा है। १५८८ के बाद तो वह स्टार चेम्बर के मुख्य राजदूत के रूप में काम करता रहा और बड़े ही गुप्त और महत्वपूर्ण कागजात को एक राज्य से दूसरे राज्य के पास पहुँचाने का कार्य करता रहा। यहाँ तक कि जिस दिन मार्लो की हत्या हुई उस दिन भी उसके पास "From the Hague of the Court of None-such" के पत्र थे।

Skeres फ्रिजर का मित्र था। वह कुछ दिनो तक कारावास में भी रहा था। बाह्य रूप से तो उसे किसी अपराध के दण्ड के रूप मे जेल की सजा

दी गई थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि वह वहाँ अन्य कैदियो के व्यवहारों पर देख-रेख रखता था और उसकी रिपोर्ट सरकार को दिया करता था । Miss De. karle ने लिखा है कि इस बात के प्रमाण १५८६ मे मिले हैं कि अर्ल ऑफ एसेक्स की सरकार के अधीन वह किसी महत्वपूर्ण पद का अधिकारी था । सरकार से उसे वेतन प्राप्त होता था । इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि १५८३ और १५८४ मे वह अर्ल की सेवा म था और मार्लो के साथ वह विशेष रूप से सरकार का काम करता था ।

फ्रीजर की कथा ऊपर कही गई है कि वह १५९३ मे मार्लो की हत्या के बाद भी किस तरह सरकार की सेवा मे लिया जाता रहा और वेतन प्राप्त करता रहा ।

ऊपर की पंक्तियो में घटना से सम्बन्धित चारों व्यक्तियो के पूर्ववृत्त का सक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट है कि बात ऊपर से जितनी सीधी सादी दिखलाई पड़ रही है उतनी सीधी नही है, बात मे कुछ अधिक रहस्यमयी गहराई है । इसके पीछे बहुत गहरी राजनीति काम कर रही है । पूरा राजकीय तन्त्र तथा उच्च सरकारी कर्मचारियो का हाथ इसमे था ।

यह भी कम आश्चर्य की बात नही, जैसा कि Hoffman ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है, कि पुरालेखागार तथा इतिहास के पृष्ठ इतनी भयकर घटना, सामयिक सर्वश्रेष्ठ साहित्यक प्रतिभा के विनाश के बारे में मौन हैं, चुप्पी साधे बैठे हैं, सांस नही लेते मानो उनकी गर्दन पर तलवार लटकती रही हो और उसकी डोर इतनी पतली हो कि जरा सी हवा चलते ही तलवार टूट कर गर्दन पर गिर पड़े । यह मौन की दुरभिसधि कैसी ? आज तो व्यक्ति, यदि उसमे कोई विशिष्टता हुई, उसके मरते ही सारी दुनिया में हलचल मच जाती है, समाचारपत्रों की बन आती है, तरह-तरह के संस्मरणो तथा शोकोद्गारों का जलप्लावन उपस्थित हो जाता है, न्यायिक जांच की मांग सरकार से की जाती है । यह अवश्य है कि इन चार शताब्दियों में दुनिया बदल गई है फिर भी इस तरह के समारोहो तथा आयोजनो के तत्कालीन उल्लेख मिले नही सो भी बात नही । मार्लो जैसे उदीयमान, आशा तथा विश्वास से पूर्ण साहित्य-प्रतिभा को आकस्मिक तथाकथित हत्या ने कब्र मे दफन हो जाने के लिये बाध्य किया यह भले ही सही नही हो पर यह तो सही है कि ऐतिहासिक मौन ने उसकी कथा को और भी अधिक गहराई में दफनाने की चेष्टा की है । नास्त्यत्र सदेहः ।

मार्लो के मित्रों की संख्या कम नही थी । परन्तु किसी को भी उसकी हत्या की वात मालूम नही थी । लंदन मे मार्लो के सव मित्र तथा प्रशंसक एक वहुत वड़ी संख्या मे मार्लो की शोकसभा में शोकोद्‌गार प्रगट करने के लिये एकत्र हुए थे, वहाँ लोगों को यही मालूम था कि मार्लो की मृत्यु प्लेग के कारण हुई । यहां तक कि Chislehurt के जिस Walsingham Church मे मार्लो दफनाया गया था वहां के Vicar के भाई Gabrill Harvey को भी मार्लो की हत्या की वात मालूम न थी । अथवा यदि उसे इसका ज्ञान हो भी तो भी उसने इसका उल्लेख नही किया । मानो सव कोई इस मौन दुरभिसंधि मे सम्मिलित हों ।

अतः, इस अनुमान के लिये यथेष्ट आधार मिल जाते हैं कि मार्लो की हत्या की वात मनगढन्त कहानी है जिसे प्रचलित करने की आवश्यकता राष्ट्र हित की दृष्टि से अनिवार्य हो उठी थी । यदि यह कहानी नही गढी जाती तो निश्चय ही देश पर या मार्लो पर कोई वहुत वड़ा संकट आने वाला था । यदि यह अनुमान ठीक है तो प्रश्न होता है कि वह कौनसा संकट हो सकता है जो इस वनावटी कथा के प्रचार से सफलतापूर्वक टाला जा सका ? इसके लिये भी सतोषजनक उत्तर मिल जाता है ।

यहां पर मार्लो की जीवनी गाथा के विस्तार में जाना अप्रासंगिक होगा । इतने ही से काम चल जायेगा कि १५९३ में मार्लो अपने सांसारिक तथा साहित्यिक वैभव के चरमोत्कर्ष पर था । फ्रांसिस वालसिघम के भाई टामस वालसिघम की घनिष्ठ मैत्री का वह अधिकारी था । अब उनकी विपुल सपत्ति तक उसकी पहुँच थी । अपने समय के सभी प्रसिद्ध साहित्यिकों की मैत्री तथा श्रद्धा उसे उपलब्ध थी । चैपमेन जैसे कवि, हेरियट जैसे गणितज्ञ तथा वाल्टर रैले जैसे व्यक्तियों से वरावर ही विचार विनिमय में संलग्न रहता था । कीड के साथ तो वह कुछ समय तक एक ही कमरे में रहा भी था । ठीक इसी समय एक ऐसी दुर्घटना घटी जिसके कारण मार्लो का जीवन ही संकट में पड़ गया । यदि उसके प्राणों की रक्षा के लिये असाधारण उपायों से काम नही लिया गया होता तो उसे प्राणदण्ड की सजा मिलनी अवश्यंभावी थी । या तो उसे फांसी दी जाती, या जीते जी जला दिया जाता, कुत्तों से नुचवा दिया जाता अथवा अनेक मर्मान्तिक पीड़ा देकर उसके प्राण हर लिये जाते ।

एलिजावेथ का युग किस तरह धार्मिक असहिष्णुता का काल था यह इतिहास का साधारण विद्यार्थी भी जानता है । राज के विरुद्ध या प्रोटेस्टेन्ट

ईसाइयत के विरुद्ध जहां किसी ने कुछ कहा नही कि वह स्टारचैम्बर के कानूनी पजों मे आया और मौत के घाट उतरा। स्टारचैम्बर का कानून यत्र कुछ ऐसा ही कठोर तथा निर्मम था कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उसके शिकजे मे आ जाता था और एक बार पकड़ मे आने पर उसका निकलना कठिन था। १२ मई १५९३ को प्रसिद्ध साहित्यकार Thoms kyd पकड़े गये। उन पर नास्तिकता, राज्य को खतरे मे डालने वाली कार्रवाइयों में रुचि लेने तथा राजविद्रोही साहित्य के प्रकाशन का अपराध लगाया गया था। पुलिस के द्वारा निष्ठुरता से पीड़ित किये जाने पर उसने बयान में कहा था कि उसके अध्ययन कक्ष मे पाये गये निरीश्वरवादी प्रलेख के तीन पृष्ठ तो मार्लो के लिखे हुए थे। और चूंकि, दो वर्ष पूर्व, ये दोनो साथ ही, एक ही कमरे मे रहते थे अतः kyd के अनजान में ही ये कागज उसके कागजों मे मिल गये। (They were shuffled with some of myne (unknown to me) by some occasion of our Wry-tinge in one chamber two yeares since)."

तत्कालीन कानून की दृष्टि से यह बड़ा ही भयंकर अपराध था। कुछ ही दिन पहले मार्लो के एक मित्र Francis Kelt को इससे बहुत ही हल्के आरोप के कारण अग्नि मे डालकर जला दिया गया था। मार्लो के अपराध की गुरुता इससे कहीं अधिक थी। उसके विरुद्ध निरीश्वरता ही नहीं और भी अनेक तरह के एक से एक गंभीर आरोप थे। बाइबिल के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति आदम और हौवा के साथ ६००० वर्ष पूर्व मानी जाती है परन्तु मार्लो ने इस धारणा की अभिव्यक्ति की थी कि भारतीय तथा बहुत से अन्य लेखकों ने (Indians and many Authors) आज से १६००० वर्ष पूर्व साहित्य की सृष्टि की थी। उसका विश्वास था कि धर्म की उत्पत्ति लोगों को आतंकित कर दबाने के लिये हुई थी। उसके विचार मे सब प्रोटेस्टेन्ट मतावलम्बी दंभी गदहे हैं (all protestants are hippocriticall Asses)। और भी कितने आरोप थे यहां तक कि उसके विरुद्ध समलिंगी कामुकता का भी लाछन लगाया गया था। उस समय के न्यायतत्र की दृष्टि से इनमे से एक अपराध के लिये भी प्राणदंड की सजा थी। जिसके विरुद्ध इतने अपराधों के प्रमाण हो उसके लिये तो बात ही क्या ! संस्कृत मे एक श्लोक है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

उसी तरह यहां एक आरोप भी अनर्थ के लिये पर्याप्त था जहां इतने हों वहां क्या कहा जाय ?

अतः यह निश्चित था कि मार्लो के प्राणों की रक्षा इतने आरोपों के रहते किसी तरह नही हो सकती थी। मार्लो की गिरफ्तारी हुई किड की गिरफ्तारी के छः दिन बाद। साधारणतः ऐसे अपराधी के साथ किसी तरह की रियायत नही की जाती थी। पर प्रभावशाली मित्रो के प्रभाव से विचाराधीन काल मे मार्लो को इसी शर्त पर छोड़ा गया कि जब तक मुकदमा चल रहा है तब तक वह नित्य प्रति काउन्सिल के सामने हाजिरी दे जाया करे। तत्कालीन परिस्थितियो मे यह बहुत रियायत थी जो Walsingham जैसे व्यक्तियों के प्रभाव के बिना असंभव थी। अतः, मार्लो की रक्षा के लिये कोई भी उपाय नजर नही आता था। एक ही उपाय था और उस समय के शीर्षस्थ कानूनदां ने मिलकर ही यह उपाय सोच निकाला होगा। उपाय यही हो सकता है कि मार्लो कानून की दृष्टि से मर जाय पर वास्तव में उसकी मृत्यु न हो। उसे बाहर भेज दिया जाय या उसे भूम्यन्तर्गत कर दिया जाय।

ऐसे ही परिस्थिति मे अपने तीन प्रसिद्ध मित्रों के साथ उस मिलन-स्थल पर मार्लो का सम्मेलन होता है और वहां जो घटना होती है उससे हम परिचित हैं। अब आप इस इतिहास के आलोक मे सारी कथा पर विचार करें। साथ ही उन सब तर्कों पर भी विचार करें जो मार्लो की हत्या के पारिस्थितिक प्रमाणों को ध्यान में रखकर दिये जाते हैं। इस बात मे विश्वास करने के लिये पर्याप्त अवसर मिल जाता है कि मार्लो की हत्या की सारी कथा एक बनावटी कथा थी, वास्तव में उसकी हत्या नही हुई थी। उसकी रक्षा के लिये ये सारे षड्यंत्र रचे गये थे। अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाता। यह अवश्य है कि इसके कारण मार्लो को लुक-छिप कर ही जीवन व्यतीत करना पड़ता, पर यह मृत्यु से तो अच्छा ही था। उसकी लेखनी की नित्य नव नवोन्मेषशालिनी प्रसाद-विभूति से साहित्य की श्रीवृद्धि तो होती रही। भले ही वह उसके नाम से प्रकाशित न होकर दूसरे किसी व्यक्ति के नाम पर चलती रही हो। आलोचकों का ऐसा दल भी है जिनके लिये साहित्य ही प्रमुख है, वे उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व को जानने की परवाह नहीं करते। इसलिये किसी साहित्य या वास्तविक लेखक के अनुसंधान में अधिक परिश्रम करने की बात को वे समय का व्यर्थ व्यय समझते हैं। नाटक का गौरव तथा काव्य की विशेषता यही है कि पाठक उनको पढ़कर आनन्द का रसास्वादन करता है।

किसने लिखा या किसने नहीं लिखा इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान हो भी जाय तो इससे क्या अन्तर पड़ता है।

अतः वहि:साक्ष्य के आधार पर इस अनुमान के लिये बहुत ही सबल कारण उपस्थित हो जाते हैं कि मार्लो की हत्या वाली तारीक था उस समय की राजनीति के दवाव में आकर मानव निर्मित कहानी मात्र है। इसके समर्थन के लिये अन्तःसाक्ष्य ढूंढें तो भी प्रमाणों की कमी नहीं रहती। हॉफमेन ने Shakespeare के साहित्य के अध्ययन के बाद बहुत से ऐसे प्रमाण ढूंढ निकाले हैं। यह अवश्य है कि मार्लो को प्रच्छन्न रूप में अपना जीवन व्यतीत करना था। परिस्थितियां ऐसी थी कि वह खुलकर कोई भी ऐसी बात नहीं कह सकता था जिसके द्वारा उसके जीवित रहने का प्रमाण मिल सके। इसलिये उसे बहुत सतर्कता से काम लेने की आवश्यकता थी। फिर भी साहित्य में लेखक के व्यक्तित्व की झलक तो किसी न किसी रूप में मिल ही जाती है। यह वह जादू है जो सर पर चढ़ कर बोलता है। यही बात मार्लो के सम्बन्ध में भी हुई है।

Shakespeare ने केवल नाटकों की ही रचना नहीं की है परन्तु अनेक मार्मिक मुक्तक कविताएं भी उसकी लेखनी से प्रसूत हुई हैं। उसका मुक्तक-काव्य सोनेट के नाम से प्रसिद्ध है। इनके सूक्ष्म अध्ययन से पता चल जायेगा कि इस जीवित-समाधि की स्थिति में पड़ कर मार्लो की आत्मा कभी कभी व्याकुल होकर कराह उठती थी और अनिच्छन्नपि उसके मुक्तको में उसकी जीवनगाथा और वेदना स्थान पा जाती थी। इस वेदना की अभिव्यक्ति सोनेट-संख्या २५ से शुरू होती है जिसमें कवि अपने भाग्य पर बिलखता हुआ पाया जाता है। सोनेट सख्या २६ में वह स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि वह ऐसी परिस्थिति मे है कि सब लोगों के सामने अपना मुख नहीं दिखला सकता। सोनेट नम्बर २७ मे वह कहता है कि दुनिया से दूर रहकर छिपे रूप में अपना जीवन व्यतीत करने को वह बाध्य है। सोनेट सं० २८ में यहाँ तक कहता है कि उसकी आत्मा को एक क्षण के लिये भी चैन नसीब नहीं। सोनेट संख्या २९ मे वह अपनी जातिवहिष्कृत दशा पर बहुत तरस खाता है। सोनेट सं० ७६ में वह अपनी दशा पर करुणा-विगलित तो अवश्य हो जाता है परन्तु उसके मन को यह संतोष भी है कि उसके द्वारा रचित साहित्य की प्रत्येक-पंक्ति उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व की घोषणा करती रहेगी।

इन मुक्तक कविताओं के अध्येता के मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक है कि कवि के हृदय मे कौन सी पीड़ा थी जिसके कारण उसके

हृदय में एक विशिष्ट प्रकार के शोकोद्गार निकल पड़ते थे। क्या कारण था कि उसके हृदय के उद्गार को एक विशिष्ट रूप मे ढल कर ही बाहर निकलना पड़ता था ? इसका सहज उत्तर मार्लो की हत्या सम्बन्धी कथा से मिल जा सकता है। किसी कवि के लिये इससे बढकर पीड़ा की बात क्या हो सकती है कि वह अपने हृदय के रक्त को जलाकर विश्व के अंधकार को ज्योतिर्मय करे, लोगों के हृदय को शान्ति प्रदान करे; लेकिन इसका श्रेय किसी दूसरे व्यक्ति को मिल जाय और वह असहाय होकर देखता रहे, इसके विरुद्ध वह उफ तक भी न कर सके।

T. S. Eliot की बातो से प्रभावित लोग भले ही कहें कि Poetry is not an expression of personality but an escape from personality. फिर भी यदि हाफमेन की बात न मानी जाय तो इस बात का कोई समाधान नहीं मिलता कि वह शेक्सपियर, जो हर तरह से सुखी था, जिसकी कीर्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी, जिसे राज्य की कृपा-दृष्टि प्राप्त थी, जिसे जीवन मे सांसारिक भोगैश्वर्य की सब सामग्री प्राप्त थी उसके करुणा-कलित हृदय से विकल-रागिनी क्यो बजती, उसके हाहाकार स्वरों में असीम वेदना क्यो गरजती है ?

प्रसंग-वश शेक्सपियर के सोनेटों की चर्चा छिड़ गई है। ये सोनेट अपने मूल सम्प्रेरक W. H को समर्पित किये गये हैं। समर्प्यमान व्यक्ति का पूरा नाम नही दिया गया; केवल उनके नाम के प्रारम्भिक अक्षर W. H. मात्र ही दिया गया है। प्रश्न है कि यह W. H. कौन है ? अनेक विद्वानो का अनुमान है कि यह व्यक्ति और कोई नही Earl of Southampton हैं। निस्सन्देह अर्ल आफ साउथम्पटन बड़े साहित्यप्रेमी थे, अनेक कलाकार और साहित्यिकों को उनका संरक्षण प्राप्त था। शेक्सपियर या मार्लो पर भी उनकी कृपा-दृष्टि रही होगी। पर समर्पण के शब्दों से (the onlie be-getter of these insuing sonnets) जैसी घनिष्टता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है, वैसी घनिष्टता इन दोनों व्यक्तियों में थी इसका पता नही चलता। परन्तु इस बात का पूरा पता है कि इस तरह की घनिष्टता, मार्लो और Walsingham मे थी। यदि नाम के प्रारम्भिक अक्षरों को देखा जाय तो Earl of Southampton का नाम Henry Wriothe Sley था जिसके प्रारम्भिक अक्षरो का स्वरूप H. W बनता है, W. H. नही। अतः समर्प्यमान व्यक्ति अर्ल आफ साउथम्पटन हो इसकी सम्भावना कम है। परन्तु Hoffman ने प्रमाणित

किया है कि Walsingham का नाम कभी-कभी Walsing Ham की तरह भी लिखा जाता था। अतः, इस अनुमान का पर्याप्त अवसर है कि यह W. H वालसिंघम का ही संक्षिप्त रूप है। जिसकी कृपा से मार्लो के प्राणों की रक्षा हुई हो, साथ ही अज्ञातवास की पीड़ा भी मिली हो, उस पीड़ा को पीड़क को समर्पित कर देना सहज स्वाभाविक है। हम तो रोज ही कहते हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

मुझे इस बात का पूरा ज्ञान नहीं कि Shakespeare के सोनेट का ऐतिहासिक अध्ययन हुआ है या नहीं। मतलब किसी अनुसंधानकर्ता ने इस बात का पता लगाया है या नहीं कि Shakespeare का कौन सा सोनेट किस वर्ष में लिखा गया। पर यदि इस बात का पता लग जाय कि Shakespeare का सोनेट नं० २५, १५९३ के बाद अर्थात् मार्लो की तथाकथित हत्या-घोषणा के बाद लिखा गया है तो Shakespeare मार्लो विवाद पर निश्चयात्मक निर्णय लेने में सहायता मिल सकती है। हम अनुमान कर सकते है कि मार्लो के गुप्त जीवन व्यतीत करने की विवशता ने ही उसके हृदय में ऐसी पीड़ा भर दी थी जो उसके मुक्तक काव्य में फूट कर निकलती रही। मुक्तक-काव्य मे कवि के व्यक्तित्व को खुल कर सामने आने मे सुविधा भी रहती है। यह साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि नाटक मे तो लेखक को कितने ही प्रतिबन्धों की सीमा के भीतर ही काम करना पड़ता है। अतः वहां पर उसके व्यक्तित्व का सामने आना सहज-साध्य नहीं होता।

नाटकों में भी इस तरह के संदर्भ दो तीन स्थानों पर मिलते हैं पर यह भी सही है कि जिन परिस्थितियो में नाटक जैसी तकनीकी नियमानुबद्ध साहित्य की रचना की गई थी उन परिस्थितियो में इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी दो एक उदाहरण देख लेना उचित है—

Dead shephered, now I find they saw of light, who ever loved, 'that lov'd not at first sight. (As you like It II, V.)

When a man's verses cannot be understood nor a man's good wit seconded with the forward child understanding, it *strikes a man More dead than a great rackoning in a little room* (III, iii Touch stone's word)

अनेक आलोचकों ने इन पंक्तियों मे मार्लो के हत्या-सम्बन्धी षड्यंत्र की ओर संकेत की झलक पाई है।

a great reckoming in a little room. अर्थात् एक छोटे से कमरे मे बहुत महत्त्वपूर्ण घटना, इन शब्दों में मार्लो की हत्या वाली घटना का ही सन्दर्भ दिया गया है, ऐसे सोचने के लिए अधिक खींचातानी की आवश्यकता नही।

हाफमैन ने इस प्रश्न के अध्ययन में १६ वर्षों की लम्बी अवधि व्यतीत की थी। इसी अनुसन्धान-क्रम में जब उन्होंने As you like it के प्रथम फोलियो वाले संस्करण को देखा तो पाया उसमें के एक Sir Oliver Mar-lext के नाम का विवरण (Spelling) वहाँ Mar Text के रूप में दिया गया है। हाफमैन की कल्पना है कि यह शब्द Marlowe Text का संक्षिप्त रूप है। वह पात्र एक स्थान पर कहता है—Ne'er a fantastical knave of them all shall flout me out of my calling अर्थात् कोई भी दुष्ट मुझे अपनी कार्य-पद्धति से हटा नहीं सकता। सम्भव है कि मार्लो को इतिहास से हटाने की जो योजना थी, उसके विरुद्ध यह उठी हुई आवाज हो।

हम ऊपर की पंक्तियों मे हाफमैन के विचारों का अनुकरण कर रहे हैं। अतः, उनके मुख्य-मुख्य तर्कों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। इसके सम्बन्ध मे उन्होने कुछ और भी कठिन प्रश्न उठाये हैं जिनका उत्तर सहज नही मिलता—

(१) शेक्सपियर के नाम का उल्लेख Love's Labour Lost (1598) के पूर्व किसी भी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर नही मिलता। क्या कोई ऐसी बात थी जिसके कारण १५९८ से अर्थात् मार्लो के हत्या वाले काण्ड से ६-७ वर्षों के पश्चात् नाम को अंकित करना आवश्यक समझा जाने लगा?

(२) यह बात सर्वविदित है कि १६२३ मे शेक्सपियर के दो मित्रों के प्रयत्नो के फलस्वरूप शेक्सपियर के सब ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया था जिसे First Folio Edition कहते हैं। इसमें ३६ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था। इनमे १८ ऐसे थे जो शेक्सपियर के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् प्रथम बार प्रकाश मे आये। इस मौन का क्या कारण है? एक तरह का गुपचुप मौन का वातावरण व्याप्त है जो सन्देहजनक है?

(३) इस पर As you like it की बात विशेष ध्यान देने योग्य हैं। १६०० मे प्रकाशक के दफ्तर में शेक्सपियर के चार नाटकों के नाम दर्ज हैं। उनमे As you like it का भी उल्लेख है। उन पर लिखा है कि "a book

to be staid" As you like it का प्रकाशन १६२३ के पहले नहीं हुआ। मन मे प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रकाशन में इतने विलम्ब का क्या कारण है ? इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं पर उनमें एक उत्तर यह भी हो सकता है कि पुस्तक के विलम्बित प्रकाशन का कारण यह है कि यही एक पुस्तक है जिसमे मार्लो की पुस्तक Hero and Leander से पंक्तियाँ ज्यों की त्यो उठाकर रख दी गई है और हत्या वाली घटना की ओर स्पष्ट संकेत है।

इसके अतिरिक्त शेक्सपियर तथा मार्लो की रचनाओं मे अनुच्छेद, वाक्यों, शब्दावलियों की समानता का जो बाहुल्य है वह भी कम संदेहजनक नही है। इस तरह की समानताओं की एक वृहद्-सूची हाफमैन ने अपनी पुस्तक में दी है। ये समानतायें कितनी ही तरह की हैं। कुछ तो एकदम मिल जाती हैं और कुछ को समान बताने के लिये थोड़ी खींचातानी करनी पड़ती है। इनके भरोसे ही दोनो की एकता को कोई निश्चित रूप में नही कह सकता। पर अन्य प्रमाणो के रहते ये भी उनका हाथ मजबूत करती है।

जो हो, ऊपर के विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मार्लो की हत्या वाली घटना में एकान्तिक सत्यता नहीं है। यह दूसरी बात है कि शेक्सपियर और मार्लो को एक मे मिला कर देखने वाली कल्पना सही नहीं हो। अब देखना यह है कि इस कल्पना के लिये अन्य प्रमाण क्या प्राप्त होते हैं ? इस प्रश्न के दो पहलू हैं। प्रथमतः तो यह प्रामाणित करना होगा कि शेक्सपियर के नाम से जो साहित्य उपलब्ध है वह उस शेक्सपियर का नही है जिसे हम जानते हैं। इतना निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न आयेगा कि यह कैसे पता लगाया जाय कि ये रचनायें मार्लो की ही हैं, अन्य किसी की नही, बेकन या अन्य किसी दावेदार की नही हैं। अतः पहले प्रथम प्रश्न को ही लिया जाय।

शेक्सपियर की रचना होने के विरुद्ध प्रमाण—

(१) शेक्सपियर की जीवनी के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों का अभाव—यह कम आश्चर्य की बात नही कि शेक्सपियर जैसे महान् प्रतिभासम्पन्न तथा नाटककार और विश्व साहित्य मे सर्वश्रेष्ठता का अधिकारी साहित्य-स्रष्टा के बारे मे इतने कम तथ्यों का ज्ञान हो। हम इतना ही जानते हैं कि एक साधारण शहर के साधारण मध्यवर्गीय परिवार मे शेक्सपियर का जन्म हुआ, वह विवाहित था, पिता भी था, वह नाटकों में अभिनय करता था, मुकदमेबाज था, साधारणतः सम्पत्तिवान् भी था। ये तथ्य नगण्य हैं।

(२) तत्कालीन साहित्य में शेक्सपियर के नामोल्लेख का अभाव : एलिजाबेथेन युग अंग्रेजी साहित्य का स्वर्णयुग था। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास ने और कोई युग ऐसा नहीं देखा जिसे इतनी महती साहित्यिक प्रतिभाओं ने अलकृत किया हो। मार्लो, स्पेन्सर, लौज, नाशे, पील, चैपमैन तथा अन्य साहित्यकारों ने साहित्य के भंडार को इसी युग में अपनी कृतियों से समृद्ध किया था। वे अपनी रचनाओं में अपने समकालीन साहित्यिक बंधुओं का उदारतापूर्वक उल्लेख करते थे एवं उनका संदर्भ देते थे। शेक्सपियर की अनेक रचनायें १५९० तक लिखी जा चुकी होंगी। पर किसी ने भी उसकी चर्चा नहीं की है। तत्कालीन स्तूपाकार वृहद् साहित्य संभार में केवल एक स्थान पर Robert Greene के मृत्युकालीन वक्तव्य में जरा सा शेक्स-पियर-संबंधी वक्तव्य आया है। वह भी स्पष्ट नहीं है। यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसका संबंध शेक्सपियर से ही है, अन्य किसी से नहीं।

(३) शेक्सपियर इतनी बड़ी ज्ञान-राशि पर कहां और कैसे अधिकार प्राप्त कर सका ? शेक्सपियर के साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि वह अपने समय का अपूर्व ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति रहा होगा। मानवीय ज्ञान का कोई भी क्षेत्र उसके अधिकार से बाहर नहीं था। शब्दों पर उसका अपूर्व आधिपत्य था, लेटिन और ग्रीक भाषाओं का उसे अपूर्व ज्ञान होना चाहिये। पर वास्त-विक स्थिति यही है कि इसके विरुद्ध ही अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं। Ben Jonson शेक्सपियर के समकालीन थे। शेक्सपियर-संबंधी उनकी उक्ति है कि The small Latin and less Greek अर्थात् उसे लैटिन का थोड़ा सा ज्ञान था और ग्रीक भाषा का तो और भी कम। तब उसे Ovid, Lucan, Plautus के साहित्य का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सका ? शेक्सपियर लिखित The Comedy of Errors, Plautus पर ही आधारित है और इसका अनुवाद शेक्सपियर के समय तक उपलब्ध ही नहीं था। तब यह बात समझ में नहीं आती कि ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति की पैठ आधार-भूत मूल ग्रंथों तक कैसे हो सकी ?

यदि यह कहा जाय कि शेक्सपियर ने विश्वविद्यालय के विद्वानों के सम्पर्क से अपने ज्ञान-भंडार को समृद्ध किया हो, वह बहु-पठित भले न हो पर बहुश्रुत था तो यह बात भी सभावनीय नहीं दीखती। शेक्सपियर की जीवनी से यह कहीं भी सकेत नहीं है कि वे विश्वविद्यालय तो क्या किसी स्कूल मे भी कभी गये हों। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि उन्होंने स्वयं उन पुस्तकों का

अध्ययन किया हो। ऐसे अध्यवसायी पुरुषों की कमी नहीं जो किसी वाह्य सहायता के अभाव मे भी स्वयं अपने उद्योग से भाषा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह की विचारधारा वाले लोग यह भूल जाते हैं कि वे २०वी शताब्दी नही, १६वी शताब्दी की वात करते हैं। आज पुस्तकों की उपलब्धि सहज है, वड़े-वड़े पुस्तकालय हैं, पुस्तकें भी सस्ती और सहज-प्राप्य हैं। पर उस युग मे परिस्थिति सर्वथा विपरीत थी। उस समय कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय का पुस्तकालय सर्वश्रेष्ठ था पर वहा पर केवल कुछ सौ पुस्तकें ही थी और वे इतनी दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य थी कि उन्हे अलमारी मे बन्द कर या जजीर से वांधकर रखा जाता था। ऐसी परिस्थिति मे यह वात असंभव प्रतीत होती है कि शेक्सपियर ने स्वयं पुस्तकें पढ़कर ज्ञान प्राप्त किया हो। अज्ञेय की एक कविता है—

> ए रे भाई सांप, जंगल कभी छोड़ा नहीं,
> शहर में कभी रहे नहीं, यह डसना कहां सीखा।

ठीक उसी तरह कोई जिज्ञासु यदि यह प्रश्न करे कि ए रे भाई शैक्सपियर, स्कूल कभी गये नही, विश्वविद्यालय का मुंह कभी देखा नहीं तो इतनी वड़ी ज्ञान-राशि पर अधिकार कैसे जमा बैठे ? तो इसका उत्तर क्या होगा ?

इधर यदि मार्लो की जीवनी को देखें तो पता चलता है कि वह अपने स्कूल के दिनो मे वड़ा ही तेजोमय छात्र रहा, कितनी ही छात्रवृत्तियां प्राप्त की, कैम्ब्रिज मे Corpus Christi College मे प्रवेश पाने के बाद १५८७ में उसे छात्रवृत्ति मिली। वहां वह ७ वर्षो तक रह कर Ovid और Lucan का अनुवाद करता रहा और २२ वर्ष की अवस्था मे अपनी क्रान्तिकारी पुस्तक Tamburlaine की रचना की। इस वात के भी प्रमाण हैं कि तत्कालीन सभी साहित्यिक प्रतिभाओं से उसकी घनिष्ट आत्मीयता थी। अतः यदि मार्लो-शैक्सपियर एकता की वात स्वीकार कर ली जाय तो ऊपर की पक्तियों मे उठाये सव प्रश्नो का समाधान प्राप्त हो जाता है।

शेक्सपियर के भौगोलिक ज्ञान के सम्बन्ध में वहुत कुछ लिखा गया है। यह भी प्रसिद्ध बात है कि शेक्सपियर के अनेक नाटकों की लीला-भूमि इटली रही है, वही पात्रों के जीवन-व्यापार घटित हुए हैं। Two Gentle-men of Verona नामक इटालियन नाटक की रचना १५९३-९४ मे हुई। अर्थात् मार्लो के लुप्त होने के दो तीन वर्षों के पश्चात्। यह कल्पना निराधार

नहीं कि मार्लो को भगा कर इटली में सबकी नजरों से ओझल गुप्तजीवन व्यतीत करने के लिये भेज दिया गया था। फ्रांस, स्पेन तथा अन्य देशों से इटली, मार्लो की सुरक्षा की दृष्टि से, अधिक निरापद स्थान था भी।

शेक्सपियर के जीवनी-लेखकों ने प्रायः समवेत स्वर से शेक्सपियर की विदेश यात्रा वाली बात को अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि शेक्सपियर ने आंग्लभूमि के बाहर कभी भी पैर नहीं रखा। सिडनी ली ने इस बात पर विशेष जोर दिया है। यह बात नहीं कि १६ वी शताब्दी के पुनर्जागरण काल में आंग्लभूमि के उत्साही नवयुवकों में विदेश-यात्रा की प्रवृत्ति नहीं थी। उच्चवर्ग के नवयुवकों की शिक्षा ही तब तक अधूरी समझी जाती थी जब तक वह विदेशों की यात्रा न कर लें। निम्नवर्ग के व्यक्ति भी स्वयंसेवक के रूप मे, या विदेशी सेनाओं मे सैनिक के रूप में भर्ती होकर विदेश-यात्रा का अवसर पा लेते थे। पर शेक्सपियर न तो उच्चवर्ग का सदस्य था, न निम्नवर्ग का। अतः, उसके लिये विदेश-यात्रा का मार्ग अवरुद्ध रहा। नाटक मे अभिनय करने वाले बहुत से actors विदेश-यात्रा से हो आये थे। उनकी सूची प्राप्त है। पर उनमे शेक्सपियर का नाम नहीं है। हां, विदेश-यात्रा करने वालों में एक Will Shakespeare नामक व्यक्ति का नाम अवश्य आता है और एक पुस्तक लिखकर यह बात प्रमाणित करने की चेष्टा भी की गई थी कि यह व्यक्ति वही हमारा प्रसिद्ध नाटककार है। सिडनी ली ने इस मत का यह कह कर खंडन किया है कि अर्ल आफ लिसेस्टर की सेना में भर्ती होकर बाहर जाने वाला Will Shakespeare कोई दूसरा व्यक्ति था जो Stratford के समीप किसी स्थान का निवासी था। शेक्सपियर यह नाम वहां साधारण तौर पर प्रचलित था और इस नाम के धारण करने वाले अनेक लोग थे।

परन्तु दूसरी ओर यह भी देखने में आता है कि शेक्सपियर के विदेश का भौगोलिक ज्ञान इतना सही, सच्चा एवं यथार्थ है जो एक प्रत्यक्षदर्शी के लिये ही संभव हो सकता है। विशेषतः इटली के लिये तो यह बात विशेष रूप से लागू है। फ्लौरेन्स, पैडुआ, मिलन मैनटुआ, वेनिस, वेरोना, पीसा, लम्बार्डी ऐसे स्थानो पर नाटकों के दृश्यों की सृष्टि की गई है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन के जल-स्थल मार्ग का, वर्णनीय नगरों के पार्श्वस्थित पर्वतो की स्थिति, नगरों के पारस्परिक सबंधो का, दिक्-सूचक बिन्दुओं का इतना स्पष्ट निर्देश है कि अल्पज्ञ व्यक्ति, अपरित्यक्तांगलभूमि व्यक्ति के लिये देना संभव नहीं था। उस समय अच्छे मानचित्र भी उपलब्ध नहीं थे।

शेक्सपियर की विदेश-यात्रा में अविश्वस्त व्यक्तियों ने उसके वैदेशिक भौगोलिक ज्ञान की खूब खिल्ली उड़ाई है। सिडनी ली ने लिखा है कि The fact that he represents Valentine in the Two Gentlemen (1.171) as travelling from Verona to Milan (both in landcities) by sea, and the fact that Prospero in The Tempest embarks in a ship at the gates of Milan (1. 11. 129. 44) renders it impossible that he could have gathered his knowledge of Northern Italy from personal observation. अर्थात् शेक्सपियर ने अपनी तुस्तक टू जेन्टिलमैन मे लिखा है कि एक पात्र 'वरुणा से मिलान (जो अन्तर्देशीय स्थल हैं) समुद्र मार्ग होकर गया। अपनी Tempest नामक पुस्तक में लिखा है कि प्रोस्पेरो नामक एक पात्र मिलान की भूमि पर जहाज से उतरा। ये बातें सर्वथा गलत है। अतः, यह असंभव है कि शेक्सपियर ने उत्तरी इटली का ज्ञान प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त किया होगा।

साधारणतः; इन प्रमाणो के आधार पर, यह बात सही मालूम पड़ती है कि शेक्सपियर का भौगोलिक ज्ञान अत्यन्त अल्प था और बहुत कुछ सुनी सुनाई बातो तक ही सीमित था। परन्तु इधर जो इस क्षेत्र में अनुसंधान हुए हैं उनसे पता चला है कि एलिजाबिथेन-काल में लोग वरुणा से मिलान को River Adige से होकर जाते थे और यह भी कि मिलान मे अनेक नहरो का जाल बिछा हुआ था जिनके द्वारा पोतारोहण संभव था और होता भी था। जिस तरह की भूल की चर्चा की गई है वह भूल तो है ही पर शेक्सपियर की नही, शेक्सपियर के आलोचकों की थी।

आये दिन इस तरह की भूल लोग करते ही हैं। गतवर्ष तक श्री हुमायू कबिर भारत की केन्द्रीय सरकार मे सांस्कृतिक मन्त्री रहे। उनके नाम का वास्तविक विवरण कबिर ही है। इसमें बाद मे ह्रस्व इकार ही लगता है, दीर्घ नही। परन्तु फिर भी बड़े बड़े विद्वान् लोगों को भी भ्रम था और अब भी है कि कबिर लिखने वाले भूल करते हैं, कबीर लिखना चाहिये। यहां 'कबीर' का जादू ही अधिक काम कर रहा है।

इस तरह हमे पता चलता है कि भले ही हम शैक्सपियर-मार्लो-विवाद को, संभव है, कभी भी सुलझा न पावें पर इतना तो सही ही है कि हाफमैन के कथन मे पर्याप्त शक्ति है। उसे अनर्गल प्रलाप ही नही कहा जा सकता। जिस समय उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई थी उस समय यह साहित्यिकों के क्षेत्र

में पत्र-पत्रिकाओं में बहुत ही चर्चा का विषय बनी रही । कुछ ने इसकी बातों का समर्थन किया, कुछ ने भर्त्सना की । पक्ष और विपक्ष में हर तरह के तर्कों से काम लिया गया । इनको हम यथासमय देखेंगे । पर यह बात सही नहीं है कि इस प्रश्न की ओर सर्वप्रथम ध्यान १९५५ में, हाफमैन का ही गया और उन्होंने अपने ग्रंथ The Murder of the Man Who Was "Shakespeare" की रचना की । यद्यपि उनकी पुस्तक के अध्ययन से ऐसी धारणा बंधती है । नहीं, इस विचार-धारा की एक लम्बी परम्परा थी ।

हाफमैन का पुस्तक का रिव्यू करने वालों ने इस बात का उल्लेख किया है कि शैक्सपियर-मार्लो-विवाद अंग्रेजी साहित्येतिहास में बहुत पहले से चला आ रहा है । १८९५ मे San Francisco के Gleason Zeigler नामक एक वकील ने यह प्रश्न उठाया था और इसी के आधार पर It was Marlowe, A Story of the Secret of three centuries नामक उपन्यास की रचना की थी । यद्यपि यह पुस्तक जीवनी नहीं इतिहास भी नही, तथापि लेखक ने सादे तथ्यो को बहुत ही गंभीरतापूर्वक लिखा है और एक तर्क-पूर्ण भूमिका मे सब उल्लिखित घटनाओ के प्रमाण उपस्थित किये हैं । उनकी मान्यता है कि उस झगड़े मे मार्लो की मृत्यु नहीं हुई बल्कि उसने ही अपने प्रतिद्वन्द्वी का वध कर डाला । तत्पश्चात् गुप्त रूप से जीवन व्यतीत करने लगा । इसी परिस्थिति मे उसने पुस्तकों की रचना की और उन्हें शैक्स-पियर के नाम से प्रचारित किया ।

सन् १९०१ में Dr. T. C Menderhall ने Popular Science Monthly मे एक A Mechanical Solution of a Literary Problem नामक लेख प्रकाशित किया था । उसने एक यंत्र बनाया जो शरीर से संबद्ध कर दिया जाता था और पढ़ने पर पाठक के मन में जो भाव उत्पन्न होते थे उसका ग्राफ साथ में लगाये हुए प्लेट पर बन जाता था । इस तरह उससे शैक्सपियर युग के अनेक साहित्यिकों की रचना से उत्पन्न ग्राफों के चित्र एकत्र किये और पता लगाया कि शेक्सपियर तथा मार्लो के नाटकों से पढ़ने पर जो ग्राफ के चित्र बनते हैं उनमें अत्यधिक साम्य है ।

उसी तरह सन् १९२०में Ready's Mirror मे Henry Walterson ने भी एक लेख प्रकाशित किया था । सन् १९२३ मे Archie Webster ने भी National Review में 'Was Marlowe the Man' शीर्षक लेख

प्रकाशित किया था। इन सब लेखों की ध्वनि यही थी कि संभव है कि शेक्सपियर-साहित्य की रचना मार्लो के द्वारा ही हुई है।

इन सब लेखो से हाफमैन द्वारा मार्लो-शेक्सपियर-एकता के मूल प्रश्न पर कोई प्रभाव नही पड़ता। इतना ही कहा जा सकता है कि अपने पूर्व के आलोचकों के ऋण को उन्होंने उतनी स्वीकृति नहीं दी जितनी देनी चाहिये थी। पर मूल विवाद ज्यो का त्यों रह जाता है।

ऊपर की पंक्तियों मे हमने एक पक्ष की बात संक्षेप मे सुनी है। पर चूँकि यह लेख अनुसंधान छात्रो के लाभार्थ लिखा जा रहा है जिन्हे विरोधी प्रमाणो मे, पारस्परिक तारतम्य का निर्णय करना पड़ता है, कभी कभी सत्य के हित में स्वयं विरोधी तर्कों की कल्पना करनी पड़ती है, अतः दूसरे पक्ष की बात भी देख लेनी चाहिये।

यह सत्य है कि मार्लो के पक्ष मे प्रमाण उपलब्ध होते हैं परन्तु जिस तरह किसी भी खेलकूद मे कुछ अनिवार्य तथा सदानुवर्तनीय, किसी भी हालत मे अनुल्लंघनीय नियम होते हैं और उनके अनुसार ही वह खेल खेला जाता है, उसी तरह अनुसंधान क्रीड़ा के भी कुछ नियम हैं जिनका पालन हर सूरत में होना ही चाहिये। हर तरह के प्रमाण मिलने पर भी यदि उस एक नियम का पालन नही किया गया तो अथक परिश्रम से निकाले परिणाम की सार्थकता नष्ट हो जाती है। मार्लो के पक्ष मे जितने प्रमाण उपलब्ध हैं वे अनुमानाश्रित हैं, किसी प्रमाण मे प्रत्यक्षदर्शिता की बाध्यता नही है। १५९३ की घटना के बाद मार्लो २३ वर्षों तक अज्ञातवास करता रहा। इतना ही नही, दर्जनो ग्रंथों का प्रणयन करता रहा। वह अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क मे आया होगा, पर आज तक साहित्य के इतिहास मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही पाया गया जिसने मार्लो से मिलने की बात कही हो। एक व्यक्ति भी तो ऐसा मिलता जो मार्लो के देखने का, इस अवधि मे, दावा करता हो। यह मौन का षडयंत्र मार्लो के विरुद्ध पड़ता है। कोई भी ऐसा प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति मिलता। जब तक ऐसा व्यक्ति नही मिलता तब तक मार्लो का दावा पक्का नही कहा जा सकता।

जो बात मैं यहां कह रहा हूँ उसके लिये कोई बहुत अच्छा और संगत उदाहरण इस समय याद नही आ रहा है। पर एक उदाहरण, इसीसे मिलता जुलता दूंगा। Louis Muniford ने १९२९ मे Malvelli की जीवनी लिखी। उन्होंने अनेक तर्कों के सहारे प्रमाणित किया कि Melvelli की जीवन में जो

करुणा की धारा प्रखर है, वेदना की पीड़ा परिव्याप्त है उसका कारण यह है कि वे Hawthrone से मित्रता करना चाहते थे, और इसके लिये उन्होने वड़ा प्रयत्न भी किया। पर Hawthrone ने उनके भावो का आदर नहीं किया और ठंडे वने रहे। मित्र की इसी वेवफाई के कारण Malvelli का जीवन करुण भावों से भर उठा। इसके प्रमाण में L. M. कहते हैं Witness the way Howthrone portrayed Malville Muniford in 'Ethan Brand' पर एक दूसरे शोधकर्त्ता ने तुरन्त इसके विरोध में कहा कि जव Ethcen Brceaemh प्रकाशित हुआ तव तक Hawtherone से Malvelle की मुलाकात ही नही हुई थी। तव Hawthorne के लिये कैसे संभव था कि वह Melville का चरित्र चित्रण अपनी पुस्तक मे करता।

एक दूसरा उदाहरण भी याद आ रहा है, Felix Aylmer ने डिकेन्स पर अध्ययन कार्य करते हुए अनेक प्रमाणो तथा अपूर्व मेधावी अनुमानों के वल पर प्रमाणित किया डिकेंस का Ellen नामक नारी से प्रेम सम्बन्ध था जिसके परिणामस्वरूप Ellen ने १८६७ मे York Road अस्पताल मे एक शिशु का प्रसव किया और रजिस्टर मे दर्ज कराया कि यह शिशु Tringham नामक एक House Painter और उसकी पत्नी का है। यह प्रसिद्ध वात है कि Ellen Ternan वाले मामले में डिकन्स अपना उपनाम Charles Tringham ही कहा करते थे। Felix Aylmer का कहना था कि वास्तविक श्रीमती Tringham को वच्चा नही हुआ था। वह वच्चा Allen Trenan का ही था। परन्तु वाद में Garham Storey नामक दूसरे अनुसंधानकर्त्ता ने फिर से अस्पताल के सव कागजात का अध्ययन किया। उनमें एक ऐसा कागज भी मिला जो Aylmer की आंखों से छूट गया था। उसके आधार पर प्रमाणित किया जा सका कि वह शिशु वास्तव मे श्रीमती Trngham का ही था, Allen Trenan का नही।

कहा जाता है कि शेक्सपियर के जीवन के सम्वन्ध में वहुत कम तथ्य ज्ञात है तथा समकालीन साहित्यकारों ने उनका कही भी संदर्भ नही दिया है। एक तो यह वात गलत है। शेक्सपियर के वारे मे काफी सामग्री प्राप्त है, उसके समकालीन साहित्यकारों से अधिक ही। अधिक जानकारी की मांग करने वाले विद्वान् आज के मानदण्ड से उस युग की गतिविधि की परख करना चाहते हैं। ये लोग कल्पना कर लेते हैं कि आज की तरह ही उस समय भी साहित्यिक गोष्ठियां होती थी, लोग अपने मित्रों को अपनी रचनाओं की

प्रशस्तिया लिखने के लिये प्रेरित करते थे। जब हम यह देखते हैं कि एलिजा-वेथ के समय में समाचारपत्र नही थे, कापीराइट कानून नही था, नाटककार अपना पारिश्रमिक लेकर नाटक Actors को सौप देते थे। उसके वाद पुस्तक से उनका कोई सम्वन्ध नही रह जाता था; अभिनय करने वाली कम्पनी के सदस्य या अधिकारी अपनी इच्छानुसार जो चाहे करें। आगे आनेवाली पीढ़ियों में पुस्तक का कैसा आदर होता है इसकी उन्हें परवाह नही थी तो हमे इस पर आश्चर्य नही होना चाहिये कि शेक्सपियर के सम्वन्ध में इतनी कम सूचनायें क्यों प्राप्त हैं। आश्चर्य तो यह है कि इतनी भी सूचनायें कैसे वची रही।

साहित्यिकों का आदर आज भी राजनीतिज्ञों, व्यापारियो, सरकारी नौकरियां करने वाले लोगों से कम है। आखिर शेक्सपियर, अभिजातवंशोत्पन्न व्यक्ति नही थे, साधारण परिवार तथा साधारण स्थान मे उनका जन्म हुआ था। वे कम्पनियो मे नट का काम करते थे। राजदरवार मे नाटक-कम्पनियां बुलाई जाती थी। वहां अभिनयार्थ जाती थी जहां वडे-बड़े उच्चाधिकारियों के घनिष्ठ सम्पर्क का अवसर भी कम मिलता था। आज उस युग का जो कुछ भी इतिहास उपलव्ध है वह राजकीय कागजातो, राजकीय रोजनामचे, गुप्तचर विभाग के लिखे पत्रों तक ही सीमित है। ऐसी परिस्थिति मे इसमें कोई आश्चर्यजनक वात नही कि ऐतिहासिक क्षितिज पर शेक्सपियर का नक्षत्र देदीप्यमान दृष्टिगोचर नही होता हो। तिस पर भी Francies Meres ने शेक्सपियर को Ovid, Palutus तथा Seneca की तुलना में श्रेष्ठ ही कहा है।

अब शैली, शब्दावली तथा वाक्यांशों, भावो, टेकनीक की समानताओं की वात लीजिये। इस सम्वन्ध मे कुछ वातें ध्यान रखनी चाहिये—

(१) तुलनात्मक अध्ययन वाली पद्धति खतरे से खाली नही है। प्रत्येक युग मे कुछ विशेषताएं प्रचलित रहती हैं जिन पर सव सदस्यों का समानाधिकार सा रहता है। हिन्दी मे छायावादी युग का उदाहरण ताजा है। इस आधार पर किसी तरह का अनुमान कर लेना समीचीन नही। जिन समानताओं के आधार पर Shak. Marlow की एकता प्रामाणित की जाती है इसके आधार पर यह भी प्रामाणित किया जा सकता है कि मार्लो ने शेक्स-पियर साहित्य की कौन कहे एलिजावेथन युग के प्रत्येक नाटककार के नाटकों की रचना की है।

(२) तिस पर भी साहित्यक चौर्य-क्रम के वारे में प्रत्येक युग में धारणायें वदलती रहती हैं। इस युग में किसी दूसरे के कथनों, वाक्यों, विचारों को अपना लेने में कोई आपत्तिजनक वात नही समझी जाती थी। उस युग में विशेषज्ञों का सहयोग लेकर साहित्य-प्रणयन करना साधारण प्रथा थी। मार्लो विशेषज्ञ थे इसमे कोई संदेह नहीं। संभव है शैक्सपियर ने उनसे सहायता ली हो। कुछ ऐतिहासिको ने कहा भी है कि शैक्सपियर ने मार्लो से ही नाटक-रचना की शिक्षा पाई थी। ऐसी परिस्थिति में यदि शैक्स-पियर साहित्य पर मार्लो की छाया प्राप्त हो तो यह अस्वाभाविक नही।

हाफमेन की यह भी कल्पना थी कि मार्लो की लिखी हुई उन सब रचनाओं की पांडुलिपि वालसिघम के पास रही होगी, जिसे शैक्पीयर नाम-धारी व्यक्ति ने छपने के लिए दिया होगा। बहुत परिश्रम के बाद वैलसिगम के Will को खोज निकाला गया जिनमें किसी प्रतिलिपिकार के लिए उन्होंने कुछ अर्थ राशि सुरक्षित करने की बात कही है। हाफमेन ने एलिजावेथेन युग के ५० विलों का अध्ययन किया और उनमें यही एक Will ऐसा पाया गया जिसमे किसी प्रतिलिपिकार के लिए कुछ अर्थ राशि देने की वात कही गई है। हाफमैन का अनुमान था कि यही व्यक्ति मार्लो की रचनाओं की प्रति-लिपि कर उसे प्रकाशित करने के लिए दिया करता था। प्रतिलिपि इतनी शुद्ध हुआ करती थी कि उसमे कही भी जरा एक विराम चिह्न के भी परि-वर्तन करने की आवश्यकता नही पड़ती थी। हाफमेन ने कल्पना की थी कि वैलगिनम ने मरने के समय इन सब रचनाओं को एक बाक्स मे बंदकर अपनी कब्र मे अपने साथ दफना देने के लिए कहा होगा। उन्होंने अथक परिश्रम के बाद उस कब्र को फिर से खुदवाने की आज्ञा प्राप्त की थी। जब कब्र खोदी गई तो उसमे सिवाय बालू के और किसी तरह की पांडुलिपि का पता नही चला। इससे हाफमेन के द्वारा प्रतिपादित मार्लो और शैक्सपियर की एकता वाले सिद्धान्त को बहुत बड़ा धक्का लगा।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि हाफमेन का अनुमान कि शेक्सपियर-साहित्य की रचना मार्लो के द्वारा हुई होगी—बहुत ही अपूर्व सूझबूझ का है और उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन मे जितने प्रमाणों को एकत्र किया है उससे शैक्सपियर-सम्बन्धी साहित्य का पुनर्विचार करने की प्रेरणा भी मिलती है। परन्तु इतना होने पर भी उनके पक्ष में कोई ऐसा दृढ प्रमाण नही मिलता जिससे मार्लो और शैक्सपियर की एकता प्रमाणित हो सके। हाफमेन से कम

खोदने के पहले पूछा गया कि यदि वहां पर मार्लो की पांडुलिपियां नहीं प्राप्त हों तो क्या आप अपने सिद्धान्त को वापस लेंगे ? उन्होंने कहाकि नही, जरा भी नही। इससे तो इतना ही होगा कि हमारे पक्ष की सत्यता का समर्थन करने वाला एक प्रमाण कम हो जायगा। परन्तु दूसरे प्रमाण तो है ही। बारी-बारी से सब प्रमाणों की जांच की जायगी। जो कुछ भी हो, हमारा मूल सिद्धान्त पूर्ववत् सिद्धान्त की तरह अडिग रहेगा ही—

"And if what I seek is not found in the tomb ? Will my postulate be voided forthwith? Not a whit ! I will merely eliminate one Possibility. Others exist. Each, in turn, will be investigated. Come what may, my basic thesis will hold as strong, and rock-firm as ever." (P. 153)

इन बातो से ऐसी धारणा बनती है कि हाफमेन के हृदय में अपने प्रतिपादित मत के लिए एक तरह का हठाग्रह है।

अन्त मे हम यही कह सकते हैं कि शेक्सपियर-मार्लोविद मे सत्यता का अश है अवश्य परन्तु अब हमारे पास ऐसे प्रमाण मिलने की सभावना कम है जिसके आधार पर हम कोई निश्चित राय दे सकें।

साहित्य के अधिकांश विद्वान् शेक्सपियर के अस्तित्व मे विश्वास करते हैं और इस जनतंत्र के युग मे सदियों से बुलंद होती रहने वाली जनता की आवाज की अवहेलना करना सहज नही है।

४

पाठ-संशोधन की समस्या

"Nay, sure, he's not in hell: he's in Arthur's bosom if ever man went to Arthur's bosom. A'made a finer end and went away and it had been any Christian child; a'parted even just between twelve and one, even at the turning o' the tide; for after I saw him fumble with the sheets and play with flowers and smile upon his finger's ends, I knew there was but one way; for his nose was as sharp as a pen and a Table of green field." [King Henry the Fifth (Act II Sc. III)]

इन पंक्तियों के द्वारा नाटक की परिचारिका (hostess) फाल्स्टाफ की मृत्यु का वर्णन कर रही है। परन्तु जो लोग पाठानुसंधान के प्रेमी है और जो यह समझते हैं कि जब तक यह निश्चित न हो जाय कि लेखक के सही शब्द क्या थे तब तक सारा साहित्यालोचन-व्यापार निरर्थक है, उनका ध्यान and a table of green fields की ओर गया। प्रश्न यह है कि इन शब्दों का क्या अर्थ है? साधारणतः इन शब्दों से जो अर्थ निकलता है उसकी संगति प्रसंग से कुछ भी नही बैठती। टेबिल और हरे-भरे मैदान (green fields) की वार्तों की यहां कौन-सी तुक है? इसी प्रश्न को लेकर पाठालोचकों में, शेक्सपियर साहित्याध्येताओ मे एक ऐसी वादविवाद-परम्परा छिड़ गई है जिससे पाठालोचन की समस्याओ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

शुद्ध पाठ की चर्चा तो बहुत दिनों से थी। विद्वान् लोग सदा से शुद्ध पाठ के महत्व को समझते रहे हैं :

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या-प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥

जिन प्राचीन मनीषियों ने ये शब्द कहे थे वे शुद्ध पाठ के कितने समर्थक रहे होंगे ! सरस्वती जब वेद-मन्त्रों के रूप में प्रकट हुई तब से किसी ने मंत्रों के साथ छेड़छाड करने का साहस न किया। कवि के शब्दों की भी रक्षा उसी तत्परता से की जाती है। पर यह कार्य शुद्ध पाठ की खोज नामक एक पृथक् व्यापार के नाम से पुकारा नही जाता था। अब साहित्य में शुद्धता का आन्दोलन विकसित हो रहा है। शुद्ध कार्यों की चर्चा आज खूब जोरो पर है। मेरी कल्पना है कि शुद्ध आलोचना, शुद्ध उपन्यास, शुद्ध कहानी, शुद्ध पाठ का आन्दोलन भी प्रबल रूप धारण करने वाला ही है।

अस्तु, ये शब्द सन् १६२३ वाले संस्करण में पाये जाते हैं। कहा जाता है कि इसी साल शेक्सपियर के सब नाटको का सम्पूर्ण संग्रह तैयार कर प्रकाशित किया गया, और इस नाटक का प्रामाणिक पाठ्य यही है—(The first collected edition of Shakespeare's plays, and the only real authority for the text of play—David Daiches in *Critical Approaches to Literature*—Ch. 16) परन्तु १६०० या १६०८ के प्राचीन संस्करणो मे ये शब्द नही पाये जाते। लेविस थियोबोल्ड ने १७३३ अर्थात् ११० वर्षों के उपरान्त स्वसम्पादित संस्करण का प्रकाशन कराया जिसमे उन्होने इन शब्दों को बदलकर and a babbled of green fields कर दिया। तब से और भी अनेक परिवर्तन तथा सशोधन उपस्थित किये जा रहे हैं।

अतः, इन शब्दों के केन्द्र-विन्दु से जो शास्त्रार्थ का झमेला उठ खड़ा हुआ है उसके स्वरूप को भी संक्षेप में जरा समझ लेना चाहिए। इससे हिन्दी के ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण तैयार करने में सहायता मिलेगी। सूर, तुलसी, जायसी इत्यादि के शुद्ध पाठ-निर्धारण में बहुत-सी संस्थाएं संलग्न हैं। स्पष्ट है कि जहां तक इन शब्दों की स्थिति का प्रश्न है तीन बाते हो सकती हैं—(१) ये शब्द ठीक है, शेक्सपियर के ही हैं। तब इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि यदि ये शब्द शेक्सपियर के ही हैं तो १६०० या १६०८ वाले संस्करण में क्यो नही पाये जाते ? उस समय शेक्सपियर (१५६४-१६१६) जीवित ही थे। यदि उनकी रचना मे कही कोई भूल भी होती तो वह उसका सुधार मजे मे कर सकते थे। यह अवश्य है कि उनकी तत्पर देख-रेख मे उनके नाटक प्रकाशित नहीं हुए थे। पर ऐसी बड़ी भूल, जिसके कारण प्रसंग का सारा अर्थ ही उलट-पुलट जाय, हँसुये का विवाह और खुरपे का गीत

वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है; वह शेक्सपियर के कानों में अवश्य पड़ी होती और उन्होने भूल का सुधार अवश्य किया होता चाहे वह omission की हो अथवा commission की हो। पर इन सस्करणों में अर्थात् १६०० तथा १६०८ वालों मे कोई भी ऐसा प्रयत्न परिलक्षित नही होता। माना कि १६०० वाले सस्करण मे ये शब्द भूल से छूट गये हों, और यह भी मान लें कि उस समय मुद्रण कला इतनी विकसित नही थी कि छूटे हुए शब्दों को यथास्थान जोड़ना सम्भव हो सके। पर इस भूल का परिमार्जन १६०८ वाले संस्करण मे तो हो ही सकता था। इसमे क्या बाधा थी ? पर यह नहीं हुई। तब इन शब्दो का बीच मे आ जाने का क्या रहस्य है ? निष्कर्ष यही निकलता है कि शेक्सपियर के ये शब्द नही हैं। शेक्सपियरोक्त होने के लिए हमें तीन प्रश्नो का समाधानकारक उत्तर देना होगा—(क) शेक्सपियर के जीवनकाल के संस्करण मे ये शब्द क्यों स्थान नही पा सके ? (ख) यदि ये शेक्सपियर के ही शब्द हैं तो प्रसंगानुकूल सार्थकता की मात्रा इनमे कितनी है ? (ग) यदि शेक्सपियर के शब्द नही हैं तो १६३३ वाले प्रामाणिक संस्करण मे आ कैसे गये ?

पोप इन्हे शेक्सपियर के शब्द नही मानते। पर वे इस बात का संतोषजनक उत्तर देते है कि ये शब्द वहां किस तरह स्थान पा गये और लोगों ने उन्हे सही मान लिया। इसी भूल की इतनी पुनरावृत्ति होती रही कि वही सत्य बन गई है और उसका निराकरण कठिन हो रहा है। हम पोप की तर्कपद्धति को देखें। उनका कहना है कि यह बात जो सम्भव हो सकी अर्थात् इन शब्दों को शेक्सपियर के पाठ मे स्थान मिल गया वह नाटक के सम्पादकों की एक मजेदार भूल के कारण। बात यह हुई कि शेक्सपियर के नाटक रंगमंच पर खेले जाते थे, इसमे तो कोई सन्देह नही। नाटक के अभिनय के लिए जो स्क्रिप्ट तैयार की जाती थी उसमें यत्र-तत्र नाट्योपयोगी निर्देशन भी दिये रहते होंगे। यहां पर जिस दृश्य का वर्णन किया जा रहा है वह एक आपानक-गृह (Tavern) का है जहा पर एक टेबिल लाने की जरूरत थी। यही बात निर्देशक ने स्टेज सजाने के लिए, स्क्रिप्ट में नोट कर रखी थी। ग्रीनफील्ड शायद उस व्यक्ति या कम्पनी का नाम था जो नाटकगृहो के लिए टेबिल इत्यादि की व्यवस्था करता था। नाटक के सम्पादकों ने भूल से इन शब्दों को नाटक के अभिलेख का ही अंश मान लिया और उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशित करा दिया। आधुनिक युग में मुद्रण का थोड़ा-सा भी अनुभव

रखने वाले व्यक्ति को बतलाने की आवश्यकता नही कि प्रूफ-संशोधन के लिए हाशिए में बतलाये गये निर्देश किस तरह मूल पाठ मे भी, कम्पोजिटरों की भूल से स्थान पा जाते हैं।

यह कथन बहुत तर्कसगत, विश्वासोत्पादक तथा सन्तोषप्रद मालूम पड़ता है। बहुत से विद्वान् इसको स्वीकार करते हैं। व्यक्तिगत रूप में मुझे यह व्याख्या बहुत ही युक्तियुक्त मालूम पड़ती है क्योकि आये दिन मुझे इसका कटु-मृदु अनुभव होता ही रहता है। आप जानते हैं कि मैं वधिर व्यक्ति हूं। संगोष्ठियों मे दुभाषिये के माध्यम से मेरा कार्य चलता है। दूसरे लोग जो विचार प्रकट करते हैं उन्हें मेरे दुभाषिये महोदय लिखकर उनसे मुझे अवगत कराते हैं। एक सभा हो रही थी। एक प्रश्न पर कोई सज्जन बोल रहे थे। मेरे दुभाषिये महोदय ने लिखा कि ये सज्जन अपनी सत्ता की दृढ रक्षा-पंक्ति बनाये हुए हैं। कभी भी इस प्रस्ताव का पारित नही होने देंगे क्योकि इससे उनके अधिकारों का हनन होता है। वास्तव में वक्ता महोदय के ये शब्द नही थे। यह दुभाषिये महोदय की अपनी राय थी जो वे मुझे बता रहे थे ताकि मैं पूरे वातावरण से अवगत रह सकूं। पर मैंने यह समझ लिया कि प्रस्ताव पर बोलने वाले वक्ता महोदय की ही यह उक्ति थी। उसी तरह इस बात की सम्भावना यहां भी है कि नाटक के निर्देशक ने अपनी सुविधा के लिए हाशिए मे लिख रखा हो कि यहां पर ग्रीन-फील्डस के टेबिल रखे जाएं (and a table of green field)। पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर सम्पादक ने इसे वास्तविक पाठ का ही अश समझ लिया हो और ये शब्द ज्यों के-त्यो छप गये हों।

परन्तु समस्या यही पर हल नही हो जाती। मानव-स्वभाव का सच्चा स्वरूप क्या है, कहा नही जा सकता। वह नवीनता का प्रेमी होता है अथवा प्राचीन से ही चिपका रहना चाहता है कहना कठिन है। यही मानना ठीक है कि वह सब कुछ होता है। उसमे तरह-तरह की विचारधाराओं का संघर्ष होता रहता है और उसके परिणामस्वरूप मानवता अग्रसर होती रहती है। अतः, कुछ विद्वान् ऐसे भी सामने आये जिन्हे पोप की इस व्याख्या से सन्तोष नही हुआ और वे यह मानने को तैयार नही थे कि ये शब्द शेक्सपियर के नही हैं और सम्पादक की महज असावधानी से वहां स्थान पा गये है। नही, ये शब्द शेक्सपियर की उक्ति के ही अश हैं।

यह मत मि० थियोबोल्ड का था। उन्होंने इस बात को प्रमाणित करने की चेष्टा की और अपने पक्ष के समर्थन के लिए अनेक तर्क दिये कि नाटक मे

जिस तरह के प्रसंग का वर्णन है उसके लिए टेबिल की कोई सार्थकता नहीं है। तब वहां टेबिल स्थापना करने की बात सोच लेना क्लिष्ट कल्पना ही है। वास्तव मे ये शब्द शेक्सपियर के ही हैं। बात इतनी-सी है कि लिखावट की विचित्रता के कारण इन लोगो ने भूल से कुछ का कुछ पढ़ लिया है। वास्तव मे शब्द हैं "he babbled of green fields" (वह ज्वरावेश में हरे-भरे खेतों के बारे मे बर्रा रहा था) इसी को 'a table of green fields' पढ़ लिया गया है।

मैं यहाँ पर अपनी बात कहूंगा। मैंने मि० थियोबोल्ड की मौलिक पुस्तक नहीं देखी है कि विश्वास के साथ कह सकूं कि उन्होंने इस बात के प्रमाण में अन्य स्थानो पर हस्तलिपि की विचित्रता के कारण उत्पन्न भूलो के उदाहरण दिये हैं या नही। इस तरह की भूल शेक्सपियर-साहित्य में अन्य स्थानों पर भी कही हुई है या यह शेक्सपियर-पाठालोचन क्षेत्र का अकेला अद्वितीय उदाहरण है। पर मेरे सामने तो हिन्दी या अंग्रेजी-साहित्य से अनेक उदाहरण उपस्थित हो रहे हैं। बड़े मजे की बात यह है कि पोप ने भी अपनी सम्पादित पुस्तक के दूसरे संस्करण में थियोबोल्ड के पाठ-संशोधन को स्वीकार कर लिया है। पर पुस्तक के प्रथम संस्करण में कही हुई बात मे कुछ ऐसी स्पष्टता है, स्वाभाविकता है, विश्वसनीयता है कि उसके प्रति अविश्वास करने का जी नही चाहता। यदि पोप ने पहले से ही एक बात कहकर पाठक के मस्तिष्क को पूर्वाग्रहानुविद्ध नही कर दिया होता तो थियोबोल्ड की बात को स्वीकृत कर लेने मे सुविधा होती।

नाशे की एक पुस्तक है 'Pierce Penilesse'। उसके प्रथम संस्करण मे ये पंक्तियाँ मिलती है —"If he challenged to fight, for his delaterie dye case he objects that it is not the custome of the Spaniards or the Germane to look back to every dog that barks,"

इस वाक्य मे एक शब्द आता है dye case। इस शब्द में इस वाक्य मे बैठने की न तो योग्यता है, न आकांक्षा। यहाँ पर excuse होना चाहिए। स्वाभाविक प्रेरणा होती है कि नाशे की हस्तलिपि की परीक्षा की जाय और देखा जाय कही वे ex को dy की तरह तथा u को a की तरह तो न लिखा करते थे ! खैर, यहाँ तो विशेष शंका का अवसर कम है क्योंकि पुस्तक के दूसरे संस्करण में dye-case के स्थान पर excuse ही मिलता है।

यदि हिन्दी साहित्य में हस्तलिपि की विचित्रताओं के कारण उत्पन्न भ्रमों का उदाहरण लें तो जायसी का 'पद्मावत' अच्छा उदाहरण है जायसी के 'पद्मावत' का सम्पादन अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। 'पद्मावत' के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि :

"सन् नौ सौ सैंतालिस अहै।
कथा आरम्भ-बैन कवि कहै।"

अर्थात् ६४७ में कवि ने इस ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की। यहाँ तक तो ठीक पर मतभेद ६४७ पर है। कुछ लोग कहते हैं कि ६४७ नहीं है, ६२७ है। क्योंकि ६४७ मानने से पुस्तक मे उल्लिखित बहुत-सी घटनाओ की संगति नही बैठायी जा सकती। फारसी-लिपि मे जरा सी कलम के हिलने-डुलने मात्र से सत्ताइस का सैंतालिस पढ लिया जाना कठिन नही है।

यहाँ पर प्रसंगवशात् हस्तलिपि की विचित्रता तथा तज्जन्य अनुसंधान-जटिलता की चर्चा चल पडी है। अतः मुझे कुछ ऐसे प्रसग याद आ रहे हैं जहाँ पर हस्तलिपि की समता या विषमता के कारण बडी जटिल समस्या खड़ी हो गई थी। अंग्रेजी-साहित्य के अध्येताओं को विलियम हेनरी आयरलैण्ड (१७१७-१८३८) की कथा भूली न होगी। वह शैक्सपियर की हस्तलिपि की ऐसी सटीक नक़ल कर लेता था कि बड़े-बडे विद्वान् जेम्स बॉसवेल, हेनरी पाई राजकवि तथा प्रिन्स ऑफ वेल्स भी भ्रम मे पड़ जाते थे। उसने शैक्सपियर की अनेक दस्तावेज, अनुबंध, leases, धर्म विश्वासो तथा एन हॉयवे के पास लिखे एक पत्र (जिसमे उसके केश-कलाप का एक गुच्छा भी था) का ऐसा जाली रूप तैयार किया था कि बहुत-से लोगों ने उन्हें भ्रम मे सच्चा मान लिया था। बॉसवेल की प्रसन्नता की तो बात न पूछिये। वे तो भावावेश में आकर टेहुने टेककर उस Relic को चूमने लगे। इतना ही नही, आयरलैंड का उत्साह यहाँ तक बढा कि उसने शैक्सपियर के नाम से उनकी ही हस्तलिपि मे लिखा हुआ एक 'वॉर्टिगेन' नामक नाटक का ही एक जाली रूप उपस्थित किया। यह नाटक ड्रूअरी लेन में खेला भी गया था जिसमे केम्बले ने नायक की भूमिका अदा की थी। यह भ्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्त में चलकर आयरलैंण्ड ने स्वयं अपने अपराध को स्वीकार किया और इसके सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी।

कहने का अर्थ यह है कि हस्तलिपि की विचित्रता के कारण बहुत ही समस्याएँ खड़ी हो गई हैं और शैक्सपियर के विषय में यही बात हो यह कोई असम्भाव्य नही।

डॉ० वारवर्टन भी थियोवोल्ड के पाठानुसंधान से सहमत नही हैं। उनका तर्क यह है कि फाल्स्टाफ जिस रोग से पीड़ित था वह burning quotediantertian था, एक तरह का तिजरा ज्वर। इस रोग के रोगी, ज्वरावेश मे आकर वक-भक नही करते, अंट-संट नही वोलते। फाल्स्टाफ के प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, दम निकलने ही वाला था, वह कुछ वोल सकने की परिस्थिति मे नही था। यदि वह वोलता भी तो हरे मैदानों (green fields) मे शीतलता प्राप्त (cooling) करने की वात नही कहता क्योंकि उसके पैर स्वय ठंडे हो रहे थे। इस वात को भी नही भूलना चाहिए कि babbled के स्थान पर Table, जिसमे Capital 'T' है, पढ़ा जाना कठिन है।

स्मिथ ने इस पाठ-संशोधन की समस्या पर दूसरे ढंग से ही विचार किया है। उन्होने कहा कि सम्पादकों का ध्यान एक वात की ओर नही गया कि शेक्सपियर की शब्दावली में टेविल का अर्थ टेविल नही पाकेट-बुक है। वस समझ लीजिये डायरी। यदि सम्पादको के ध्यान में यह वात आयी होती तो वे जरा-सा परिवर्तन करके इस वाक्यांश को इस रूप में रहने देते। for his nose was as sharp as a pen upon a table of green fells. इसमे कम से कम परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। केवल and के स्थान पर upon तथा fields के स्थान पर fells पढ़ने की आवश्यकता है। आज भी यह वात देखने में आती है कि डायरियों में (प्रायः हर रंग के चमड़े की जिल्द से बंधी) नोकीली कलम या पेंसिल रखी जाती है, मरणोन्मुख व्यक्ति की नाक पतली तथा नुकीली हो भी जाती है। अतः, फाल्स्टाफ की नाक की पतली तथा नुकीली कलम से तुलना करना उचित भी मालूम पड़ता है। वात सीधी-सी है कि होस्टेस कहना तो चाहती थी on a table-book with a shagreen cover or shagreen table, परन्तु अपने गलत अभ्यास के कारण Table of green fells कहती है। इसी को प्रतिलिपिकार ने भूल से green fields लिख दिया है। इस तरह शेक्सपियर के साहित्य में एक वड़ी मनोरजक भूल को प्रवेश करने का अवसर मिल गया और इसी को लेकर 'मुण्डे-मुण्डे मति भिन्ना' वाली प्रवृत्ति ने एक विचित्र वितण्डावाद उपस्थित कर दिया।

इस विवादग्रस्त वाक्यांश के वारे में एक और भी अनुमान किया गया है। कदाचित् table शब्द ठीक है और विकृत शब्द and है जो in के स्थान पर भूल से छप गया है। शेक्सपियर के अन्य नाटकों में इस तरह की भूल

(अर्थात् and के स्थान पर in का छप जाना) दृष्टिगोचर होती है । अत. इस वाक्यांश का संशोधित रूप यह होगा "and his nose was as sharp as a pen in a table of green fields." संभव है कि Pen शब्द का प्रयोग pen pinfold (a pen for animals) के अर्थ में किया गया हो और टेबिल का प्रयोग चित्र के अर्थ मे । इस प्रसग मे मैलोन ने कहा है कि The pointed stakes of which pinfolds are sometimes formed, were perhaps *in the poet's thought.*

यह कहना कठिन है कि संशोधन के लिए प्रस्तावित इन प्रस्तावो में कौनसा सर्वोतम तथा ग्रहणीय है । सवों ने अपने पक्ष के समर्थन मे अपने अपने तर्क दिये हैं जिन्हें झट से टाला नही जा सकता । इतना ही कहा जा सकता है कि *and he babbled of green fields* ही मानने के पक्ष में अधिकाश विद्वानो की सम्मति है और शायद यह ठीक भी हो । पाठ संशोधन के लिए कोई वैज्ञानिक नियम नहीं बनाया जा सकता । यह एक तरह की आन्तरिक प्रज्ञा है, अन्दर से उठने वाली हिलोर है जो किसी रहस्यमयी गति से सत्य की छोर को छू लेती है । वास्तव मे यह कला है । इसी को देखकर ए० ई० हाउसमैन ने कहा है कि पाठालोचक का कार्य वैसा नही मानो न्यूटन ग्रहों की गति का अनुसधान करता हो । यह मक्खियों को पकडने वाले कुत्ते के अधिक समीप है । यदि कुत्ता मक्खियों का शिकार गणित के नियमों के आधार पर करने लगे, अपने क्षेत्र के आकड़ो तथा वहा की जनसंख्या का अध्ययन करे तो वह कर चुका शिकार । शायद ही भाग्य से एक—दो शिकार हाथ लगें । "A textual critic engaged upon his business is not at all like Newton investigating the motion of planets, he is much more like a dog hunting for flies. If a dog honted for flies, on mathematical principles, having his researches on statistics of area and population he would never catch a flea except by accident."

हाउसमैन का कथन सिद्धान्ततः ठीक हो सकता है । यह सही है कि महान् प्रतिभा नियमाधीन नही होती । रचनात्मक या अनुसंधानात्मक प्रतिभा "नियतिकृत नियम रहिता, अनन्य परतन्त्रा" होती है, वह किसी नियम का ताव नही मानती, वह उन्हे रौदकर चलती है । पर सब प्रतिभाएँ महान् नही होती । सब साहित्यिक या शोधकर्ता महान् प्रतिभा के धनीन ही होते ।

मतलव साधारण प्रतिभावाले ही सब क्षेत्रों में काम करते हैं। वल्कि उनकी ही संख्या अधिक होती है। नियम इत्यादि उन्ही के पथ-प्रदर्शन के लिए होते हैं ताकि कहीं उनसे भयंकर भूल न हो जाय।

अतः पाठानुसंधायक शोध-छात्र पाठों में संशोधन करे, इसमें कोई आपत्ति जनक वात नहीं। परन्तु जो संशोधन किया जाय उसमें दो गुणों का होना आवश्यक है—(१) प्रसंगानुकूलता· मौलिक पाठ प्रसंग से सर्वथा असंगत हो, उनकी संगति जरा भी न वैठती हो पर संशोधन प्रसग के साथ अनुकूल हो। ऐसा लगे कि प्रसंग की वह नैसर्गिक माँग है। (२) विकार हेतु स्पष्टता: अर्थात् संशोधन मे ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वह बतला सके कि पाठ मे विकारोत्पन्न होने के क्या कारण है। उन कारणों में विकारोत्पत्ति की पूर्ण शक्ति होनी चाहिए। कुछ हेतु ऐसे प्रवल होते हैं कि धीरों में विकृति उत्पन्न कर देते हैं। शिव वड़े धीर थे, समाधि मे लीन थे। उन्हें अपने ऊपर पूरा विश्वास था। जव पार्वती पूजा करने आयी तो उसे आने दिया। कालिदास कहते हैं :

> प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोनुमेने
> विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

पर सब कुछ होते हुए भी वे परिलुप्त-धैर्य हो ही गए। पर हर मे इस परिलुप्त-धैर्य की स्थापना करने के लिए कवि को क्या-क्या करना पड़ा है वह तो कालिदास ही जानते है, दूसरा कौन जान सकता है?

इन दोनो शर्तों की पूर्ति and a babbled of green field के द्वारा हो जाती है। जिस तरह के प्रसंग का वर्णन हो रहा है उसमें अर्थात् फाल्स्टाफ की प्राणघातक ज्वराक्रांत दशा में उसकी वर्राहट, असंगत प्रलाप अप्रासगिक नही है। अतः प्रथम शर्त की पूर्ति तो हो ही जाती है। दूसरी शर्त की पूर्ति मे भी सन्देह का कम अवसर है। डॉ० गेग ने कहा है कि babbled कि शायद table लिखा गया होगा और एलिजावेथन युग की हस्तलिपि में b और t तथा d और e मे साम्य हो जाना सहज है।

कभी-कभी तो प्रस्तावित पाठ-संशोधन इतने सटीक तथा उपयुक्त होते हैं कि उनको स्वीकार कर लेने मे किसी को भी आपत्ति नही हो सकती। उनको देखते ही सारा वातावरण प्रोद्भासित हो जाता है मानो प्रसंग में उसकी ही नैसर्गिक मांग है। और कृतिकार रूपी विधाता का आन्तरिक

प्राणावेग उस प्रस्तावित शब्द को छोड़कर दूसरा ग्रहण ही न कर सका होगा। परन्तु दूसरी ओर बड़े-बड़े विद्वानो के द्वारा भी ऐसे प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं, जो उनके सारे पाण्डित्य तथा तर्कजाल के बावजूद भी उसमे अप्रतिहत गति विश्वास उत्पन्न नही होता। विद्वानो का पूर्वग्रह तथा अपने बौद्धिक विलास के प्रदर्शन की प्रमुखता सामने आ जाती है। प्रथम मे विश्वास कर लेना सहज है और ऐसे पाठ-संशोधनो का स्वागत होना चाहिए। परन्तु दूसरे प्रकार के संशोधन के प्रति सतर्क, सावधान तथा सशक रहना चाहिये। एक अच्छे शोधकर्ता के लिए पूर्ण रूपेण शकालु होना चाहिए। मानव-मात्र के सत्योपलब्धि क्षमता तथा तथ्य संरक्षण-क्षमत्व के बारे मे—यहा तक अपने सम्बन्ध मे भी उसे तुच्छ सम्मति लेकर ही चलना चाहिए। ऐसा सोचना चाहिए कि मनुष्य मे सत्य से दूर हो जाने की सहज प्रवृत्ति है। दूसरों के साथ पारस्परिक व्यवहार में, दैनिक मानवीय आचार-विचार में भले ही वह अधिक से अधिक विश्वासी हो, लोगों की बातों मे विश्वास करे, पर शोध-क्षेत्र मे आते ही उसे अपना पुराना चोला उतार कर नया रूप धारण करना पड़ेगा। अपनी पुरानी छवि त्यागकर संशय का धनुष-बाण हाथ में लेना पडेगा। उसे थोडा परम्परावादी भी होना चाहिए। किसी ग्रन्थ तथा ग्रन्थ-लेखक सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओ में परिवर्तन को स्वीकार करने के पूर्व हजारो बार सोचना चाहिए।

ऊपर हमने पाठ-संशोधन के दो रूप किए हैं तथा एक के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, दूसरे के प्रति निषेधात्मक रहा हूं। मेरा मन्तव्य उदाहरण से स्पष्ट होगा। मैक-कैरो ने नाशे ग्रन्थावली का सम्पादन किया है (Nashe, Works:ed. Mc. Kerrow)। वहाँ पर एक वाक्य है "It fareth with the as, as it did with Calchas that running soothsayer." यहां पर सम्पादक महोदय ने running के स्थान पर cunning कर दिया है जो स्वीकरणीयता की सारी कसौटी पर सही उतरता है। Running शब्द की यहां पर कोई सार्थकता नही। भविष्य की बातें कहने वाले ऐन्द्रजालिक दौड़ने मे तेज नही होते। हां, वे चतुर, धोखेबाज लोगो को धपले मे रखने वाले अवश्य होते हैं। अत. उन्हें cunning कहना सर्वथा उपयुक्त है। लेखक ने यही लिखा भी होगा। इस तरह के संशोधन से लेखक के प्रति न्याय भी होता है और प्रासगिक सार्थकता व्यर्थता मे परिणत हो जाती है। अतः इसे स्वीकार कर लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? रही

e और r में भ्रम होने की बात। इस तरह के भ्रम का हो जाना नितान्त सहज तथा स्वाभाविक है।

दूसरी तरफ एक हिंसात्मक खींचातानी पूर्ण तथा अनर्गल सुधार का भी उदाहरण लीजिये। यह Shakespeare, Hamlet ed W. G. Clark and W. Aldiswright I, ii. 129 से लिया गया है। हैमलेट में शेक्सपियर की एक उक्ति आती है 'O, that this too too solid flesh would melt.' डॉ० ग्रेग तथा अन्य विद्वानों ने अनेक तर्कों के आधार पर यह कहा है कि यहाँ पर solid के स्थान पर sullied होना चाहिए। यह बात सही है कि हस्तलिपि के वैचित्र्य के नाम पर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि sullied के स्थान पर solid पढ़ लिया गया होगा। पर यह तो उस विपरीत तर्क का उदाहरण हो गया जिसे अंग्रेजी मे putting the cart before the horse अर्थात् साध्यमान वस्तु को सिद्ध मानकर चला जाय। साध्य को सिद्ध मान लो और उसके अनुसार ही तर्क एकत्रित करो। 'हितोपदेश' का प्रथम श्लोक है :

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्धि शशिन. कला॥

साध्य मे सिद्धि हो जाती है क्योंकि शिव की जटा में जाह्नवी-फेनलेखेव शशिनः कला वर्तमान जो रहती है। यदि शिव के प्रसाद प्राप्त हो तो मनोवांछित फल प्राप्ति सुलभ है। पर शोध-छात्र को इस तरह का प्रसाद प्राप्त नही है।

यहाँ पर प्रश्न यह नही कि solid गलत हो और sullied ठीक। यह भी प्रश्न नहीं है कि sullied को ही हस्तलिपि की विचित्रता के कारण solid पढ़ लिया गया। पर प्रश्न है कि यदि वहां पर solid ही रहने दिया जाता है तो कौन-सी भयंकर आपत्तिजनक स्थिति पैदा हो जाती है? क्या अर्थ का अनर्थ हो जाता है? क्या solid में किसी तरह की प्रसंग-सहिष्णुता नही है? यदि है तो व्यर्थ मे solid के स्थान पर sullied क्यों किया जाय? अधिक से अधिक यही किया जा सकता है कि पाद-टिप्पणियों मे इस ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कर दिया जाय। पर ललकार कर solid के स्थान पर sullied कर देना शोध की सीमा का अतिक्रमण करना है।

५

अनुसंधान की जटिलता

साहित्यिक अनुसंधान में संलग्न साधक को सत्य-शोधन मे कितनी जटिल तथा कण्टकाकीर्ण परिस्थितियों का सामना करना पडता है इसकी कल्पना सबको नही हो सकती। उसी को हो सकती है जो इस शोध-व्यापार मे निरत है। और कभी-कभी वह असहाय होकर देखता है कि अथक परिश्रम के बाद कौड़ी-कौड़ी माया बटोरकर, अनेक प्रमाणों, उद्धरणों, साक्षियो तथा समर्थनों के आधार पर खड़ी की गई सत्य की इमारत एक हल्की-सी वायु-तरग के स्पर्श से ढह पड़ती है। सारे प्रमाण वर्तमान हैं जो किसी प्रमेय का समर्थन करते हैं, अन्तरंग तथा बहि:साक्ष्य भी उसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं, तब तक एक छोटी-सी घटना निकल आती है जिसकी संगति इस संगठन मे ठीक से नही बैठती। अत: शोधकर्त्ता को अपने सारे व्यापार पर पुनरवलोकन करना पड़ता है, सगति की युक्तियुक्त खोज करनी पड़ती है अथवा अपने मत में परिवर्तन करना पड़ता है।

उदाहरण के लिए स्विनबर्न की एक मुक्तक कविता है, 'The Triumph of Time', हिन्दी मे इसका अनुवाद कर लीजिये 'समय की प्रबलता' अथवा 'समय प्रबल है'। इसमे एक निराहृत, अस्वीकृत, भग्न-हृदय प्रणयी का करुणोद्‌गार है। कहा जाता है कि लन्दन-निवासी एक प्रसिद्ध डाक्टर की दत्तक पुत्री जेन फ़ाकनर (Boo) से कवि का प्रेम था। एडमंड गॉस जैसे सतर्क विद्वान् ने लिखा है कि स्विनबर्न ने इस हिंसात्मक तथा अशोभनीय ढग से (preposterous and violent) प्रणय-प्रस्ताव उपस्थित किया कि वह लड़की हक्का-बक्का हो गई और सारी सदिच्छा के बावजूद भी हस पड़ी। कवि को यह बहुत बुरा लगा और वह कटुता के भावो से पूर्ण लौट आया। वहाँ से नॉर्दम्बरलैंड चला गया और कविता के रूप मे भावो को अभिव्यक्त कर उसने हृदय के भार से मुक्ति पायी।

यह घटना सहज सम्भाव्य है। किसी घटनावेग से प्रेरित होकर निर्मित कविता के उदाहरणों से देश तथा विदेश का सारा साहित्य भरा पड़ा है। भार-

तीय साहित्य का साधारण-सा विद्यार्थी निषादविद्धांडजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यद् यस्य शोकः से अच्छी तरह परिचित है। इस घटना को स्वीकार कर लेने मे किसी को भी आपत्ति नही होनी चाहिए और अधिकांश विद्वान इसकी सत्यता को स्वीकार करते भी आये थे। पर जॉन एस० मेफील्ड ने English Miscellany (Rome) IV (1953) में एक लेख प्रकाशित किया Swinburne's Boo और इस घटना को गलत बताया। उन्होंने सरकारी रेकार्ड को देखकर पता लगाया कि जेन का जन्म ४ फरवरी, १८५२ को हुआ था, और प्रणय-भंग वाली घटना १८६२ में घटी। स्पष्ट है कि जेन उस समय केवल दस वर्ष की थी। दस वर्ष की लड़की के प्रति एक पचीस वर्ष का युवक प्रणय-प्रस्ताव करे यह असम्भव तो नही है। लोग होते हैं जिनके हृदय में छोटी-छोटी बालिकाओ के लिए यौन-आकर्षण होता है। पर यह स्वस्थ व्यवहार नही, असाधारण है। यह एक तरह का मनोविकार है, Psychological case है। स्विनवर्न में भी कुछ असाधारणता हो पर किसी प्रकार की यौन-विकृति की बात उसके सम्बन्ध में किसी ने भी न कही। अतः तिथि के छोटे से चमत्कार के कारण लोगों की पाली-पोसी दुनिया उलट-पुलट गई। लोगों का विश्वास अब भी यही है कि यह कविता चोट खाये हुए हृदय की आह है पर हृदय पर किसने चोट की किसने घाव किया, इसका ज्ञान नही। कम से कम Boo को इसका श्रेय नही दिया जाता।

भारतीय साहित्य के इतिहास मे भी ऐसे उदाहरणो का अभाव नहीं जिनकी रचना के पीछे इसी तरह प्रणयापमान तथा प्रणयभंग अपनी पूरी शक्ति से काम कर रहा था। सबसे प्रसिद्ध कथा कालिदास के सम्बन्ध मे कही गई 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः' वाली उक्ति है। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह भी एक निराश प्रणयी की ही कहानी है। हो न हो, कालिदास के हृदय में वेदना थी जिसका उपचार काव्य रचना-रूपी भैषज्य से हुआ। पर वह वेदना देने वाला स्रोत कहां था इसके बारे में मतभेद है।

कहने का अर्थ यह है कि यदि कोई सच्चा अनुसंधानकर्ता होना चाहता है तो उसका प्रथम कर्तव्य यह है कि वह पूर्ण रूप से संशयवादी बने, thoroughgoing sceptic। तथ्यो की जांच-पड़ताल में उसकी मुद्रा निषेधात्मक हो, तर्क और बुद्धि की कसौटी पर पूरी तरह जांच किये बिना वह किसी बात को स्वीकृति न दे। अपने दैनिक व्यवहार के जीवन में वह खूब ही उदार तथा विश्वासी हो सकता है, अपने बंधु-बांधवों की बातों पर विश्वास कर सकता है

पर अनुसंधानकर्त्ता के रूप में उसे पक्का नास्तिक, अनुदार तथा संशयालु होना पड़ेगा। संशय अनुसंधान की पहली शर्त है।

तिस पर भी एक ही घटना के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न अधिकारी व्यक्तियो के द्वारा इतनी परस्पर-विरोधिनी बातें पढ़ने को मिलती हैं कि इस झमेले मे पडकर सत्य का निर्णय करना असम्भव हो जाता है। कृष्ण ज्ञान की श्रेष्ठता बतला रहे थे पर साथ ही अर्जुन को घोर कर्म मे प्रवृत्त होने को भी उत्साहित कर रहे थे। अतः अर्जुन बेचारा घबरा गया। उसने कहा, "हे भगवन् ! मिले-जुले वचनों से तो मेरी बुद्धि ही विमोहित हो गई है। कृपया एक निश्चित बात कहिए ताकि मेरा कल्याण हो।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

अर्जुन को तो कदाचित कोई निश्चित वस्तु प्राप्त हो गई पर अनुसंधायक कभी किसी निश्चय पर पहुंच सकेगा इसका भरोसा नही। और इसका भी भरोसा नही कि जिस आधार को वह निश्चित समझ रहा है वह न जाने कब उसके हाथ से छिन जाय।

अनुसधान क्या है ? हमारे सामने अनन्त काल का प्रवाह बह रहा है, बह गया है। हम उसी अनन्त प्रवाह से एक लोटा पानी निकालकर अपने ज्ञान की तृष्णा बुझाना चाहते हैं। इसे ही प्रकारान्तर से अनुसंधान कार्य करना कहा जाता है। पर शर्त यह हे कि जो जल हम लोटे मे भरते है उसमें बैक्टीरिया के असख्य कीटाणु हैं। यदि हम उन्हे ज्यो का त्यो पी लेते हैं तो प्राणों को खतरे मे डालते हैं। शुद्ध जल से ही हमारी तृषा बुझ सकती है। अतः हम जल नदी के तटस्थ प्रवाह से नही लेंगे, कोशिश करेंगे कि जल वही से लिया जाए जहां नदी की धारा स्वच्छन्द तीव्र प्रवाह से बहती है। यदि फिर भी उसमें विजातीय द्रव्य के मिश्रण की आशका हुई तो तरह-तरह के उपचार से उसे निर्मल बनाएगे, उबालेंगे, छानकर शुद्ध करेंगे इत्यादि।

अनुसन्धान-प्रवाह के जल में कितनी ही तरह के कीटाणु मिल जाते है। परन्तु दो-चार की जानकारी प्राप्त कर लेने से हमे बहुत सुविधाएं प्राप्त हो सकती हैं। मौलिक अभिलेखो की नकल करने मे भूल, साक्षी की नैतिक,

राजनैतिक तथा वैयक्तिक अभिरुचि, तथ्य की कीमत पर भी कलात्मक सौन्दर्य वृद्धि की प्रवृत्ति, बहुत बड़ी अवधि के पश्चात् घटनाओं को यथातथ्य रूप में स्मृति-पटल पर ला सकने की अक्षमता, छापे की भूल, घटना तथा तथ्य पर प्रकाश डालने वाले सब प्राप्य एवं सम्भाव्य सूचना-स्रोतों की सहायता न लेना, समान नामधारी व्यक्तियों को एक ही समझ लेना, किसी तरह की भूल जो किसी तरह से प्रवेश कर गई पर बाद में वही पुनरावृत्त और स्वीकरणीय होकर तथ्य बन गई—इत्यादि कुछ बातें हैं जो साहित्यिक अनुसंधान क्षेत्र के दूषण हैं और वहां पर अनाचार की सृष्टि कर मिथ्या प्रचार करती हैं।

अनुसधानकर्त्ता को कितनी सतर्कता और जागरूकता से काम लेना चाहिए और एक ही घटना के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विश्वसनीय व्यक्तियों के नातिसदृश वक्तव्यों मे कितनी सूक्ष्मेक्षिकता की आवश्यकता पडती है इसका उदाहरण जानसन के जीवन के सम्बन्ध मे कही जाने वाली एक घटना से मालूम हो सकता है। वह घटना जॉनसन तथा गोल्डस्मिथ के जीवन से सम्बन्ध रखती है। बॉसवेल जॉनसन के प्रामाणिक जीवन-वृत्तकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं ही। उन्होने भी इस घटना की चर्चा की है। इसी घटना का उल्लेख श्रीमती थ्रेल ने अपनी पुस्तक Anecdote of the Late Samuel Johnson (London, 1786) मे, रिचर्ड कम्बरलैण्ड ने अपनी पुस्तक Memories of Richard Cumberland (London, 1807) मे, सर जॉन हाकिन्स ने अपनी पुस्तक Life of S. Johnson (London, 1887) मे, विलियम कुक ने European Magazine XXIV 1793 मे प्रकाशित एक लेख मे किया है। इन उल्लेखों को पढ़िये और देखिये कि इनमे कितना अन्तर आता गया है :

बॉसवेल : इस वक्तव्य के सम्बन्ध मे बॉसवेल का कथन है कि उन्होने जॉनसन के मुख से जैसा सुना है, ठीक ज्यों का त्यों उल्लेख कर रहे हैं।

"जॉनसन ने कहा कि एक दिन प्रात.काल मुझे बेचारे गोल्डस्मिथ का पत्र मिला कि वे बड़ी विपत्ति मे फस गये हैं और वे स्वय आ सकने की परिस्थिति में नही हैं। अतः मैं ही उनकी प्रार्थना पर यथासंभव शीघ्र ही उनसे मिलूं। मैंने तुरन्त उनके पास एक गिनी भेज दी और आने की प्रतिज्ञा की। मैंने तुरन्त कपड़े पहने और उनके यहाँ पहुचा तो देखता हूँ कि उनकी मकान-मालकिन ने उन्हें किराये के लिये गिरफ़्तार करा लिया है, जिस पर वे भयानक रूप से क्रुद्ध और उत्तेजित है। मैंने देखा कि उन्होने मेरी गिनी को तुड़वा लिया है और शराब की बोतल तथा गिलास पास लिये बैठे हैं। मैंने बोतल में

कोप लगा दिया, उन्हें चित्त को शान्त करने के लिये कहा और उनके साथ मिलकर विचार करने लगा कि किस तरह संकट से उनका उद्धार हो। उन्होंने (गोल्डस्मिथ ने) कहा कि एक उपन्यास की प्रति प्रेस के लिए तैयार है। मुझे उसे दिखलाया भी। मैंने उसे देखा, पाया कि पुस्तक अच्छी है। मैंने मकान-मालकिन से कहा कि मैं अभी तुरन्त लौटकर आता हूं। एक पुस्तक-विक्रेता के पास गया और साठ पौंड में उसको बेच दिया। मैंने धन गोल्डस्मिथ को लाकर दिया और उनने किराया अदा कर दिया। परन्तु साथ ही अपनी मकान-मालकिन को अपने साथ बुरे व्यवहार करने के लिए भला-बुरा भी कहना नहीं छोड़ा।"

श्रीमती प्रेल का वक्तव्य : "मैं भूल गई हूं कि कौन-सा वर्ष था। पर मेरे जानते १७६५–६६ के बाद का नहीं हो सकता। हमारे घर डिनर (रात्रि-भोजन) पर वे (जॉनसन) बैठे थे कि अचानक उनकी बुलाहट हुई और उन्हें जाना पड़ा। तीन घंटे के उपरान्त लौटने पर उन्होंने बताया कि वे एक प्रक्षुब्ध लेखक के यहाँ गये थे जिसे मकान-मालकिन किराया देने के लिए जोर दे रही थी और बाहर पुलिस खड़ी थी। लेखक महोदय शराब पीकर गम को गलत करने की चेष्टा करते तथा एक उपन्यास को लेकर उलटते-पलटते, जो समाप्त होने पर उनकी जमा-पूंजी थी। पर वे घबराहट में न तो उसे पूरा कर पा रहे थे और न दरवाजे से बाहर निकल कर उसकी बिक्री की ही व्यवस्था कर सकते थे। जॉनसन महोदय ने शराब की बोतल दूर फेंक दी। एक पुस्तक-विक्रेता के पास जाकर उस पुस्तक की प्रशंसा की और कहा कि कुछ अर्थ-सहायता की तात्कालिक आवश्यकता है। वे रुपये लेकर लेखक के पास लौटे, मकान-मालकिन को सीधे ही बुलाकर मदिरापान में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और आनन्दपूर्वक समय व्यतीत किया।"

कम्बरलैण्ड : "मैंने डॉ० जॉनसन को उस परिस्थिति का बड़े ही मजे लेकर वर्णन करते हुए सुना है कि किस तरह गोल्डस्मिथ एक अजीब संकट में पड़ गये थे। उनकी पुस्तक 'Vicar of Wakefield' को उनकी ओर से डॉड्स्ले को बेचकर मेरे जानते शायद पन्द्रह पौंड में उनका उद्धार किया। अपनी मकान-मालकिन का कर्ज उन पर लद गया था और वह समझ नहीं पा रहे थे कि वह किस तरह कर्ज को अदा करके अपने सिर के साये की रक्षा करें सिवा इसके कि वे (अपनी मकान-मालकिन का) मांथा चकरा देने वाला प्रस्ताव (staggering proposal) स्वीकार कर उसे पत्नी के रूप में स्वीकार

करें। उस नारी में कोई खास आकर्षण की बात भी नही थी। भाग्य की इसी संकटापन्न स्थिति में उसे इस दुःखद विकल्प पर विचारमग्नावस्था में विसूरते हुए पाया। उसने जॉनसन को 'Vicar of Wakefield' की पाडुलिपि दिखलायी, परन्तु इसके सामने इसके आधार पर न तो कुछ अर्थ-प्राप्ति की योजना ही थी और न इसकी आशा ही थी। जब जॉनसन ने उसे देखा तो कुछ आशा वधी और वे तत्काल उसे डॉड्स्ले के पास ले गये जिसने तत्काल ही नकद दाम चुका दिये और भविष्य में उसकी विक्री पर शर्त लगा दी। जॉनसन ने कहा कि कितनी रकम उसे प्राप्त हुई यह बात गुप्त रखी गई केवल सावधानी के लिये और उसने विवेकपूर्ण रूप से एक वार एक गिनी देकर अदा किया। अन्त मे उसने मकान-मालकिन के कर्ज को अदा किया और अपने मित्र को उसके प्रणय-चंगुल मे फंसने से वचाया।

सर जॉन हाकिन्स (एक पूर्व-वॉसवेल जीवनी-लेखक)—पुस्तक-विक्रेताओं मे, जिन्हे गोल्डस्मिथ मित्र कहते थे, एक का नाम न्यूवरी था। कैननुवरी भवन मे इस व्यक्ति ने कमरे ले रखे थे जहाँ पर अपने कर्जदारों की निगाहो से वचने के लिए गोल्डस्मिथ प्रायः छिपे पड़े रहते थे। आवश्यकताओं के दवाव मे पड़कर उन्होने Vicar of Wakefield की रचना की और उसके लिए न्यूवरी ने उन्हें अस्सी पौंड दिये।

विलियम कुक—गोल्डस्मिथ न्यूवरी के तैयार लेखक का काम करते थे। न्यूवरी से परिचय के पश्चात् तुरन्त ही गोल्डस्मिथ अपने वास-स्थान को वदल कर वाइन ऑफिस कोर्ट, फ्लीट स्ट्रीट मे ले गये जहाँ उन्होने Vicar of Wakefield की रचना समाप्त की और उस पर उनके मित्र न्यूवरी ने उन्हे वीस गिनियाँ दी। डॉक्टर (गोल्डस्मिथ) कहते हैं कि एक मुश्त इतनी रकम की प्राप्ति मेरे लिए इतनी अनहोनी घटना थी कि नाटक के पात्र कैप्टन ब्रेजन की तरह असमंजसपूर्ण मानसिक स्थिति मे पड़ गया कि इस रकम का क्या करूँ ? एक नाव (Privateer) वनाऊँ या एक नाटक-गृह का निर्माण करूँ ?

जार्ज स्टीवन्स (London Magazine, 1785)—इसी से मिलती-जुलती घटना कही जाती है, पर वह गोल्डस्मिथ के आर्थिक संकट के वारे में नहीं, स्वयं जॉनसन के आर्थिक संकट की वात है। जार्ज स्टीवन्स जॉनसन-मण्डली के सदस्य थे। स्वयं जॉनसन ने इस घटना का उल्लेख उनसे किया था।

"क्लारिसा के लेखक रिचर्डसन ऐसे अवसरों पर उनके स्थायी मित्र थे। जॉनसन ने कहा, मुझे याद है कि मैंने एक हिरासत से उनके पास पत्र लिखा था। मुझे उनकी कृपा तथा उदारता से संकट से मुक्त होने का इतना भरोसा था कि उत्तर आने के पूर्व ही मैं जानता था कि जिस दुष्ट ने मुझे हिरासत मे ले रखा है उसके साथ मै बखूबी मजाक कर सकता हूँ। और मैंने किया भी। उसके साथ ही शराब पी, जिसकी कीमत चुकाने के लिए मेरे पास पैसे नही थे।"

एक ही घटना को लेकर साम्य तथा वैषम्य के विभिन्न उल्लेखों की अराजकता के सामने एक अनुसन्धानकर्त्ता इस बात का निर्णय किस तरह करे कि इसमे कितना अश सही है। ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि निम्नलिखित बातें सही मानी जा सकती है :

(१) इस तरह कोई घटना घटी अवश्य थी। गोल्डस्मिथ कर्जदा अवश्य थे और कर्ज की अदायगी में उन्हे कठिनाई का सामना करना पड़ा था। श्रीमती थ्रेल के कथन मे थोड़ी-सी असंगति यह मालूम पड़ती है कि वे कहती हैं कि यह घटना १८६५ से पुरानी नही हो सकती। पर स्वतन्त्र आधारों पर यह निश्चित किया गया है कि यह लेन-देन का व्यापार १८६२ में ही सम्पन्न हुआ था। (यहाँ पर later का अर्थ पुराना किया गया है। पर यदि इसका अर्थ बाद माना जाय और वाक्य का अर्थ यह लिया जाय कि घटना १८६५ के बाद की नही हो सकती तब तो मेरे जानते कोई असंगति नही हो सकती।)

(२) किस प्रकाशक के साथ पुस्तक की सौदेबाजी हुई और कितने रुपयों पर हुई इस पर मतभेद अवश्य है। पर यह भी कोई बड़ी बात नही है।

(३) पर कम्बरलैण्ड के कथन में जो गोल्डस्मिथ की वयस्क मकान-मालकिन वाले प्रणय-प्रस्ताव की रंगीनी आ गई है वह कवि कल्पना-सी ही प्रतीत होती हैं। उन दिनों नाटक तथा उपन्यासो में इस तरह के हास्यास्पद पात्रों की योजना एक मान्य साहित्यिक प्रथा-सी थी। कम्बरलैण्ड ने अपने कथन में रोचकता लाने के लिए थोड़ी प्रवन्ध-वक्रता से काम लिया है। बस और कुछ नही। तथ्य की दृष्टि से इस कथन के इस अंश के प्रति संदेहो हि वरम्।

(४) सबसे विचित्र बात तो जार्ज स्टीवन्स के उल्लेख में पायी जाती है। इसमें गोल्डस्मिथ कही भी चित्र मे नही आते, उनकी कही भी चर्चा

नही। एक लेखक के आर्थिक संकट से मित्र की सहायता से उद्धार की बात तो है। शराब की बात भी आती है पर यह आर्थिक कष्ट गोल्डस्मिथ का नही, स्वयं जॉनसन का है और उद्धारकर्ता रिचर्डसन है। यहाँ पर दो अनुमान किये जा सकते है :

(क) यह स्वयमेव एक स्वतन्त्र घटना हो, गोल्डस्मिथ-जॉनसन उपाख्यान से इसका कुछ भी सम्बन्ध नही। यह रिचर्डसन-जॉनसन उपाख्यान हो। यदि अनुसन्धान के अभिक्रम मे इस तरह की दो स्वतन्त्र घटनाओं का पता चल जाय तो सारे विवाद शान्त हो जाएँ। पर जब तक इस तरह के तथ्य उपलब्ध नही हो जाते तब तक वह सम्भावना तो बनी ही रहेगी कि (ख) कही न कही अपमिश्रण है। दोनों घटनाएँ मिलकर एक हो गयी हैं। 'शौण्डिकापणगमन सार्द्धं कादम्बरी साक्षिक सौहृद' के उदाहरणों की कमी नही और यह सहज संभाव्य है। (महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिक मस्माकं प्रथमसौहृदयमिष्यते।)

यहाँ पर भी कादम्बरी साक्षिक सौहृद है ही। पर जार्ज स्टीवन्स साहित्य के इतिहास मे अपनी विश्वसनीयता के लिए उतने प्रसिद्ध नही हैं। साहित्य का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ पर गप्पबाजों ने हथेली पर पौधे उगाकर दिखा दिये हैं; जहाँ कोई घटना नही भी है, वहाँ घटनाओं की काल्पनिक सृष्टि कर दी है। यदि जार्ज स्टीवन्स के कथन पर विश्वास किया जाय कि जॉनसन ने अपने सौहृद-पर्व समारोह को कादम्बरी की साक्षिकता में मनाया तो सम्भव है कि गोल्डस्मिथ वाली घटना का उल्लेख करते समय जॉनसन को अपनी घटना की स्मृति हो आयी हो और उन्होंने समान-धर्मित्व के आधार पर उसे गोल्डस्मिथ की कथा के साथ सलग्न कर दिया हो। कहा नही जा सकता कि वास्तविकता क्या और कितनी है। इतिहास की घटनाओं के साथ इस तरह के उपचय और अपचय, उत्कर्ष तथा अपकर्ष जुड़ते और टूटते ही रहते हैं। अनुसंधान इस तरह की अभिवृद्धि तथा अपवृद्धि, जोड़ तथा घटाव से रक्षित कर घटनाओ की मौलिक विशुद्धता की रक्षा करने का प्रयत्न करता है।